

## कला के परिच्छेदों को देखिए—

१.	कला की परिभाषा	३
२.	कला की विशेषता	१३
३.	कला की स्थिति	२५
४.	कला के रूप	४१
५.	सौंदर्य	६२
६.	कला का सौंदर्य	८१
७.	जीवन और कला	१००
८.	कला और देश-काल	१२२
९.	कला का उद्देश्य	१३१
१०.	कला-सृष्टि की प्रेरणा	१४२

---



प्रकाशक—

युगांतर-साहित्य-मंदिर,  
भागलपुर सिटी, बिहार

प्रथम संस्करण—१९९४

मूल्य—सजिल्द १॥)

अजिल्द १॥)

मुद्रक—

धजरंगवली 'विशारद'  
श्रीसीताराम प्रेस, जालिपादेवी, काशी

पिता, तुम्हारी वस्तु तुम्हीं को—

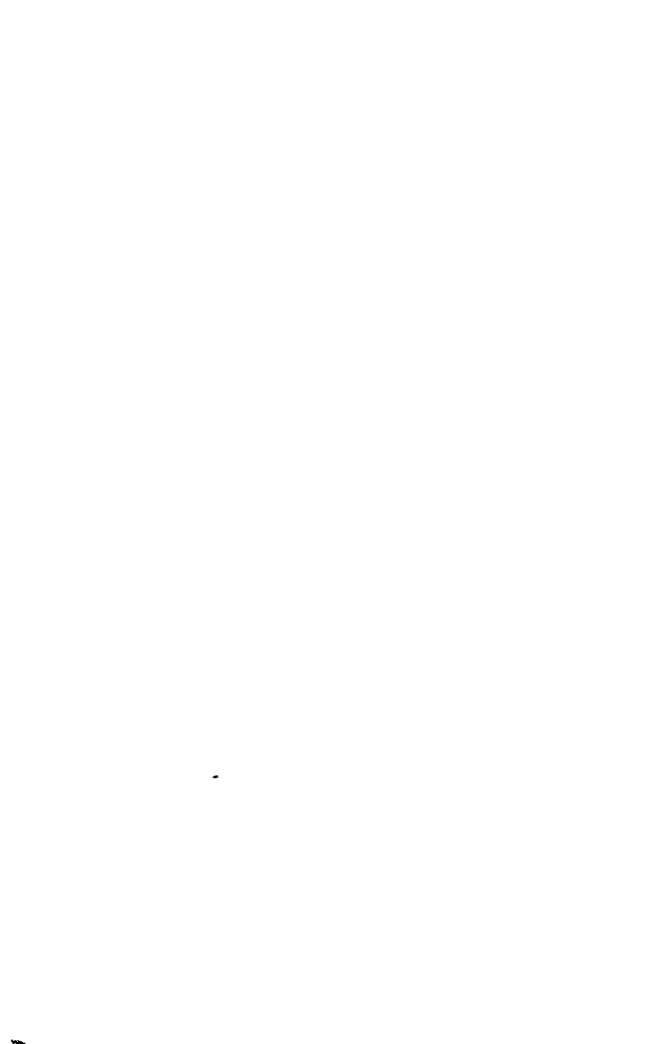






कला





## कला की परिभाषा

काव्य और साहित्य ही की तरह कला पर भी नाना मुनियों के नाना मत हैं। इसको विद्वानों ने अनेकों परिभाषाएँ गड़ी हैं। (शेर्ली की राय है, कल्पना को अभिव्यक्त करना ही कला है)। डॉल्सटॉय कहते हैं, कला मानवीय चेष्टा है। एक मनुष्य अपनी उन भावनाओं को, जिनका उसने अपने जीवन में साक्षात्कार किया हो, ज्ञानपूर्वक कुछ सकेतों-द्वारा दूसरों पर प्रकट करता है। उन भावनाओं का औरों पर असर पड़ता है और वे भी उनकी अनुभूति करते हैं। रवीन्द्रनाथ ने कहा है—जो सत् है, जो सुंदर है, वही कला है। हेगेल का कहना है, मनुष्यों की क्रिया की सृष्टि ही कला है। वायरन के मतानुसार मस्तिष्क की सृष्टि संबंधी चेष्टा ही कला है। प्रसिद्ध फ्रेंच समालोचक फागुए (Faguet) का इस



वह तो प्रकृति की अनुकरणमात्र है। मानव की यह प्रचेष्टा उनकी अनुकरण प्रवृत्ति की परिचायक है। यदि सच पृछा जाय तो संसार में जो-जो और जितनी भी उन्नत शक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं सब प्रकृति-प्रदत्त हैं। उपनिषद् कहता है, वास्तव में कलाविद् एक ईश्वर है और यह सृष्टि ही कला है। (John Stuart Mill कहते हैं, Art is but the employment of nature for an end. और मेथ्यु बार्नल्ड का कहना है—Art is the thing which they are. अर्थात् कला कला है।

उपर्युक्त कथन की सत्यता को कुछ लोग इस प्रकार स्वीकार करते हैं कि, यह सत्य है कि कला की उत्पत्ति प्रकृति से हुई है, फिर भी दोनों की भिन्न-भिन्न सत्ताएँ हैं। तात्पर्य यह कि, कला और प्रकृति दोनों एक ही श्रेणी-मुक्त नहीं हो सकतीं। प्रकृति स्वाभाविक शक्ति का नाम है और कला मानवीय सृष्टि का। अतः दोनों अलग-अलग वस्तु हैं। शेक्सपियर ने कहा है—

Nature is made better by no mean,  
 But nature makes that mean; so, over that art  
 Which, you say, adds to nature, is an art,  
 That nature makes, you see sweet maid, we marry  
 A gentler seion to the wildest stock;

And make conceive a bark of baser kind  
 By bud of nobler race. This is an art  
 Which does mend nature—change it rather; but  
 The art itself is nature.

अतः कला न तो प्रकृति का केवल अनुकरण मात्र है, और न उसको प्रतिच्छवि ही। उसकी एक स्वतंत्र सत्ता है और वह मनुष्य की अपनी सृष्टि है। यदि प्रकृति की हू-व-हू नकल कला कहलाती तो वह केवल छाया होती, निर्जीव होती। फिर आवश्यकता क्या पड़ी थी कि सजीव प्रकृति के होते हुए भी मानव उसकी निर्जीव छाया—कला—की सृष्टि करते ? फलतः कला प्रकृति की नकल तो हो ही नहीं सकती—वह और ही कुछ है।

प्रश्न हो सकता है, कला प्रकृति का अनुकरण नहीं, तो वह क्या है ? कला ? कला प्रकृति पर मानवों जी विजय की घोषणा है। जबतक मनुष्य प्रकृति के दास थे, और जबतक सभ्यता का कुछ भी विकास नहीं हो सका था, तब तक कला नाम की कोई वस्तु थी ही नहीं। कला-कौशल की उन्नति का नाम सभ्यता है और सभ्यता से अभिप्राय है, मानव-समुदाय का प्रकृति से संसर्ग छूट जाना। सृष्टि की शैशवावस्था में मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं को पूर्ति के लिए अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता था। किंतु ज्यों-ज्यों उनकी आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं

त्योन्त्यों उन्हें अपने बुद्धि-विवेक के सहारे अमसर होना पड़ा । प्रकृति का संबंध छूटता चला और अपनी शक्ति ही उसकी पथ-प्रदर्शिका बनी जिसे दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं कि उनकी बुद्धि विकसित होने लगी और वे सभ्यता के मार्ग पर अमसर होने लगे ।

हम इसे दूसरे रूप में कहने की चेष्टा करेंगे । कला मनुष्यों की अपनी सृष्टि है और वह प्रकृति से कुछ विशेषता रखती है । चित्र और फोटो में जो पार्यव्य है, वही प्रकृति और कला में भी है । फोटो प्रकृति का यथायथ अनुकरण है, पर चित्र चीज ही कुछ दूसरा है । यदि चित्रशिल्पी भी फोटोग्राफर ही की तरह किसी मनुष्य की आकृति अथवा प्राकृतिक दृश्य को दृ-द-दृ उतारता, तो वैसी तहीनता, चतनी भावुकता, और चतने पर्यवेक्षण की आवश्यकता ही क्या रहती ? किंतु सच्चा कलाकार केवल यथार्थ जगत् को ही चित्रित करना अपना कर्तव्य, अपना अभीष्ट नहीं मानता और वास्तव में यह उसकी कुशलता और सकलता का परिचायक है भी नहीं । वह तो अपनी तूलिका और रंग से उस चित्र में अपने मन की उन भावनाओं को स्पष्ट रूप से प्रतिफलित करेगा, जो भावनाएँ शिल्पी के मन को उस दृश्य अथवा आकृति के देखने पर आंदोलित करती हों । शिल्पी के सन्मुख बाह्य जगत् की अपेक्षा अंतर्जगत् अधिक मूल्यवान् है; और बाह्य



अभिव्यंजना रहती है। इसलिए कला को एक ही प्रेरणा होते  
ए भी कलाकारों की कृतियों में आकाश-पाताल का अंतर पड़  
ता है और अंतर पड़ना स्वाभाविक भी है। देश और काल का  
भी प्रभाव कला पर पड़ता है। इसपर क्या त्याग प्रकाश डाला  
जायगा। अभी इतना ही कहना आवश्यक है कि, भाव और  
रस एक होने पर भी अभिव्यक्ति में विभिन्नता आती है।

शैशव जीवन की एक अवस्था है और कदाचिन् सभी अव-  
स्थाओं से सुंदर और मधुर भी; अतः उसके बीत जाने पर मान-  
नीय हृदय में तरस आना स्वाभाविक है; किंतु प्रत्येक में एक  
जैसा तरस होना स्वाभाविक नहीं।

चित्रकार! क्या करूँ कर फिर  
मेरा भोला बालापन  
मेरे यौवन के अज्ञत में  
चित्रित कर दोगे पावन?  
—पन्त

कहाँ वह वेप वासना होन ? कहीं अब वह अज्ञान अनुरक्ति ?  
कहाँ सुरतक को भी निज पास — विहंस कर ले आने की शक्ति ?  
तिया निष्ठुर यौवन ने छीन ! बनाया दुःखमय जग का दास !  
विगत शैशव ! उस सुख का एक—छिड़क जा झोंटा आकर पास !!

—दिज





रूस के विश्व-विख्यात कला-भर्मज्ञ डोस्टावेत्की ने इन दोनों के अंतर को बड़ी सुंदरता से बताया है कि, शिल्पी जिस मुख को अंकित करते हैं, उसमें वे उसके अंतर के विशेष भाव को प्रस्फुटित करने की चेष्टा करते हैं। संभव है, चित्र अंकित करने के समय वह विशेष भाव व्यक्त न हो, पर उनकी खूबी ही यह है कि, उस अदृश्य भाव को वे कल्पना के सहारे पकड़ लेते हैं, किंतु फोटोग्राफर के अलाउद्दीन का दीपक वह कल्पना कहाँ ? वे जो देखते हैं, उसे ही यकायक उतार देते हैं। इससे संभव है कि, मनुष्य का बाहर तो प्रकाश हो, पर उस प्रकाश से वह (मनुष्य) पहचाना हो जाय—ऐसा नहीं होता। फोटो देख कर कभी-कभी नेपोलियन मूर्ख और विल्मार्क करुण-हृदय मालूम पड़ते हैं।

प्रसिद्ध इटालियन शिल्पी लिओनार्दोवत्की ने कहा है—मनुष्य एवं उसकी आत्मा की आकांक्षा को तूलिका की सहायता से प्रस्फुटित कर देने में ही कला की सार्थकता है।

अब यह स्वतः सिद्ध है कि, कला प्रकृति का अनुकरणमात्र कदापि नहीं, उसमें कलाकार की अंतर्निहित शक्ति भी लीन रहती है। विशेष कर कला में कलाकार की कल्पना का भी बहुत बड़ा हाथ रहता है। जहाँ कल्पना काम करती है, वहाँ प्रकृति से विशेषता अवश्य आएगी, आना स्वाभाविक ही है। हाँ, कल्पना



है। कलाविद् उसी सौंदर्य को फिर से विश्व-मानव के आगे पेश करता है। विशेषता उसमें केवल यही रहती है कि, उस प्रदर्शन में, उस अभिव्यक्ति में, उस सौंदर्य में वह अपनी अनुभूति, अपनी कल्पना का रंग चढ़ा देता है। यही तो कला है ! फिर किस प्रकार मनुष्य उसे अपनी स्वतंत्र सृष्टि कहने का दम्भ भरता है ?

### कला की विशेषता

वात बहुत अंशों में सच है। यदि कला में केवल यही विशेषता होती, तो उसकी स्वतंत्र सत्ता का इतना बड़ा महत्व नहीं होता। किंतु माह्वन पड़ता है कि उसमें और भी कोई विशेषता है और जो बहुत ही महत्वपूर्ण भी है। आखिर वह कौन-सी विशेषता है ? वह विशेषता है संपूर्णता का आदर्श जो संसार को और किसी वस्तु में ढूँढ़े न मिलेगी और उसीके धल पर लोग उसे मनुष्य को अपनी सृष्टि करने का साहस करते हैं। इसी कारण कला की जलग ही एक मनोरम एवं महत्वशाली सत्ता कायम होती है। समस्त विश्वप्रकृति में संपूर्णता के आदर्श का कहीं भी, कोई भी अस्तित्व नहीं। क्योंकि परिवर्तन के आवर्त में पड़कर यहाँ किसी भी वस्तु की स्वतंत्र तथा यथायथ सत्ता नहीं। प्रत्येक वस्तु अपूर्णता से पूर्णता की ओर लक्ष्य



नहीं जा सकता । कला को विशेषता, संपूर्णता का आदर्श, यही है—यहाँ ही है ।

मनुष्य इसीलिए सुंदर नहीं होता कि उसकी नाक नुकीली, आँखें आम के फाँकों-सी, रंग गोरा और वस्त्र सुनहले, साफ़-सुधरे होते हैं; वरन् वह सुंदर इसलिए होता है कि उसमें चेतना की दीप्ति, भाव का लावण्य, करुणा की मधुरता आदि का समावेश होता है । इसीलिए गुलाब अथवा चंपा की अपेक्षा हम मनुष्य के मुखड़े की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं । मनुष्य का मुखड़ा हमें अत्यधिक मोहित करता है । फूलों में हम इसी चेतना की दीप्ति का अभाव पाते हैं । यही नहीं, वह मनुष्य, जो अपने जीवन-काल में अपने में गजब का आकर्षण, हृद की सुंदरता रखता है, जब उसका शरीर प्राणहीन हो जाता है, चेतना की दीप्ति लुप्त हो जाती है, तब घृणा का पात्र हो जाता है, इसी प्रकार जिस दृश्य में कलाकार की अपनी अनुभूति निहित नहीं रहती, जिस मुख में मनुष्य के अंतर के भाव परिलुब्धित नहीं रहते, वह खोखला है । हम मनुष्य के चित्र में वाद्यावृत्ति के साथ ही भीतर के उस मनुष्य को देखना चाहते हैं जिसमें संपूर्णता का आभास हो । इसी तरह दृश्यों में हम शिल्पी की उन अनुभूति को पकड़ना चाहते हैं जो उस दृश्य के द्वारा उनके हृदय में उत्पन्न हुई हो । इसी सजीवता का लान शिल्पी अथवा



और—“A man's reach should exceed his grasp  
Or what's Heaven for ?”

पूर्णता के आदर्श पर किसी को यह आपत्ति हो सकती है कि पूर्णता है कहां ? यदि पूर्णता है तो हममें यह गति कैसे परि-लक्षित होती है ? पूर्णता तो उस श्रवत्या का नाम है, जिसके आगे और कुछ है ही नहीं । आगे बढ़ने की प्रवृत्ति हममें मात्र इसलिए होती है कि हमारा अभीष्टित स्थान ( Goal ) दूर पड़ा रहता है । पूर्णता का अर्थ लक्ष्य की प्राप्ति है । यदि कला में पूर्णता है तो फिर आगे बढ़ने की ओर हम क्यों उन्मुख रहते हैं । उत्तरोत्तर उन्नति क्यों हो रही है ? इस पर चीनी कलाकारों की राय है कि पूर्णता ही अंत है, पूर्णता ही न्यु है । इसीलिए वे किसी भी सत्ता को ससीन स्वीकार नहीं करते और उनके चित्रों में ऐसी रिक्तता पाई जाती है, जहाँ कल्पना को विचरण करने का बहुत बड़ा अवसर मिलता है । किसी विद्वान ने चीन की दृश्यांकण-कला को 'अनंत भावना' का नाम दिया है ।

इसी प्रकार कहानी में भी आजकल कला के नाम से अंत में एक बहुत बड़ा शून्य-स्थान छोड़ दिया जाता है और इसलिए कि हमारी कल्पना निर्वाष विचरण कर सके । मोटा मोटी कला पाने में नहीं है, बरन उसके संघान में है, उसमें अनंत चिरंतन का जो आभास है, वही कला है । आल्बर वाइल्ड ने कहा है,



4

5

क्या है ? यही कि हमारी चेतना वास्तविक सत्ता का साथ देती है; अर्थात् कला सत्य को सुंदर कर देती है। हम कला में इसी सत्य-सुंदर को, संपूर्णता के ऐसे ही आदर्श को चाहते हैं। जैसे संगीत को लीजिए। उसके तान और सम दो भाग हैं। तान सुर को खिलाता है, सम उसकी समाधि है। यदि सम न हो तो संगीत की पूर्णता नहीं। काव्य में भी भाव का केवल रूप ही नहीं रहता, वरन् उस रूप की एक निश्चयता रहती है। वर्डस्वर्थ ने कहा है—

“The light which never was on land or sea,  
The consecration and poet's dream.”

अर्थात् जो प्रकाश जल और स्थल कहीं भी नहीं है, वह पवित्र रूप में कवि के स्वप्न में अवस्थित है।

कलाकार की आभ्यंतरिक अनुभूति के सम्मिश्रण से वाह्य-जगत की परिवर्तनशील वस्तुओं को भी एक स्वतंत्र सत्ता कायम हो जाती है। कवि जिस भाव को रूप देता है, उसे वस्तुगत कर देता है, उसमें निश्चयता आ जाती है। कीट्स की प्रेसियन अर्न (Grecian urn) अर्थात् ‘ग्रीक मृतपात्र’ पर एक कविता है। उस पात्र पर किसी यज्ञोत्सव का चित्र अंकित था, न माटम कब की विस्मृत छवि थी वह, पर कवि ने उस छवि को फ्या कर दिया ? अमर कर दिया, अमर ! आपने बताया कि सौंदर्य अमर

•

•

•

•

से काल-चक्र को व्यर्थ कर, मूक होकर तुम्हारा संदेशा ढोता आ रहा है कि प्रिये, मैं तुम्हें भूला नहीं हूँ ।

प्रकृति परिवर्तनशील है । यहाँ कुछ भी चिरंतन नहीं और सदैव के लिए कुछ भी नहीं खोता । प्रकृति मरने के लिए जीती और जीने के लिए मरती है ।

“That tomorrow she herself may free  
She prepares her sepulchra to-day.  
All that is to live in endless song  
Must in life-time first be drowned ”

अगामी कल के लिए रूप-बंधन से मुक्त हो जाने को प्रकृति देवी आप अपनी चिता आज रच रही हैं; अनंत माघुरी में स्थित रहने के लिए प्रत्येक पदार्थ को उसके वर्तमान रूप की विद्यमानता को विनष्ट करना पड़ता है ।

किंतु कवि के आगे यह विधान उतनी भयावह नहीं । उसे तो यह हिन्मत रहती है कि हर्ज क्या, परिवर्तन के आलवाल में कोई वस्तु-कुछ-से-कुछ क्यों न हो जाय, हम भाव-द्वारा उसके जिस रूप को पकड़ लेंगे, उसे रची भर भी टस-से-भस नहीं होने देंगे । उमर जैयाम ने कहा है—

आँ माह के काचिल सवर हासत् वजात्  
गाहा हायघान शवद ओ गाह नवात्,



## कला की स्थिति

अब विचार यह करना है कि संसार तो दो ठहरा, एक अंतर्जगत और दूसरा बाह्य जगत, मगर कला की दुनिया कौन-सी है अथवा कला किस दुनिया की है ? ऊपर हम कह आए हैं कि कला प्रकृति का अनुकरण या वास्तव की प्रतिच्छवि नहीं, बल्कि प्रकृति का अंतर का सौंदर्य-प्रकाश कहना भी बेजा है, क्योंकि हृदय की सौंदर्य-भावना प्रस्फुटित होती भी है तो यथार्थ जगत का आधार लेकर, अतएव वह न तो यथार्थ जगत की प्रतिच्छाया है और न अंतर्जगत की सौंदर्य-भावना का प्रस्फुटन, अपितु वह एक तीसरी ही दुनिया की वस्तु है, उसका संसार ही भिन्न है। बात यह है कि जिस प्रकार हरे और पीले रंग के सन्मिश्रण से एक सर्वथा भिन्न तीसरे रंग की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार बाह्य जगत हमारे हृदय में प्रवेश कर या हमारे अंतर्जगत के संस्पर्श में आकर एक तीसरा ही जगत बन जाता है। वह तीसरा जगत ऐसा कि उसमें यथार्थ जगत की भी छाया हिलती है, अंतर्जगत का तो खासा प्रतिबिंब रहता ही है। वस इसी तीसरे जगत् से सर्वसाधारण को परिचित कराना कलाविद् की कला या कुशलता है, अथवा यों कहे, कलाविद् की प्रवेष्टा से जिस नवीन संसार की सृष्टि होती है, वही कला है।

किंतु याद रहे, सभी कलाविद् नहीं हो सकते। आषाढ़ के



कियाँ संख्या में कम और चौड़ाई में संकोर्ण होती हैं।  
संसार के बीच में वे प्रवाली-से हैं ।

“कुछ इस प्रकार के सौभाग्यशाली पुरुष भी हैं, जिनका विस्मय, प्रेम और कल्पना सर्वत्र सजग रहती है—प्रकृति के कोने-कोने से उनको निमंत्रण मिलता है; संसार के नाना आंदोलन उनकी अंतर्वाणी को नाना रागिणियों में स्पंदित कर देते हैं।”

कला की स्थिति में किंतु अब तक पूरा मतभेद है। कुछ विद्वानों की राय है कि, कला वास्तव की प्रतिच्छवि है और कुछ विद्वानों का कथन है कि कला है अंतर की संपूर्णता के आदर्श का प्रकाश। अंग्रेजी में पहले को Realism ( चर्यावाद ) तथा दूसरे को Idealism ( आदर्शवाद ) कहते हैं। इन दोनों वाद वालों के विवादों का अंत नहीं। गजब तो यह कि दोनों पक्ष अपनी पुष्टि के लिए एक-से-एक प्रमाण उपस्थित करते हैं, किंतु हमें इन दोनों वादों में कुछ-न-कुछ त्रुटि नजर आती है। थोड़ी देर के लिए यदि मान लिया जाय कि कला वास्तव ही की प्रतिच्छवि है तो अंधेर-सा जान पड़ता है। कोई भी मनुष्य अपने भ्रोंपड़े को तब उखाड़ फेंकेगा, जब उसे कहीं महल का ठिकाना लग जाय। आकाश के नीचे शीत से ठिठुरने तथा धूप से जलने के लिए अपने भ्रोंपड़े को उखाड़ कर शायद ही कोई अपनी असाधारण मूर्खता का परिचय दे। कला यदि चर्या जगत् की छाया हो तो वह इसी





कम आनंद-प्रदान, इतनी ही उसकी उपयोगिता हो. पर अनुकरण में, नकल में वह वृत्ति कहों, वह आनंद कहों !

जर्मनी के शोक गैलरी ( Schack galerie ) में उन्नीसवीं सदी के सर्व श्रेष्ठ जर्मन चित्रकार लेनबाक ( Frauz Von Lenbach १८३६-१९०४ ) का एक चित्र है। चित्र का नाम है Der Histenk nabe अर्थात् मेघ-पालक बालक। इस चित्र की संसार भर में काफी धूम है। आप पूरे वस्तुतंत्रवादी थे और चित्र में उग्र वास्तविकता की पूरी तिष्ठता है। मध्याह्न का समय है, इटली का आकाश प्रखर सौंदर्योद्दीप्त है। जमीन हरे मखमल जैसी कोमल घासों से लदी है, घासों के बीच-बीच में छोटे-छोटे फूल खिले हुए हैं। तितली और मधु-मक्खियों की टोली उड़ रही है। ऐसी सजीवता है, ऐसी सजीवता कि उनके गुन-गुन गीतों की भी आवाज़ का कानों को भान हो जाता है। रंग की अजब बहार है। उसी घास के विद्यौने पर एक बालक आँखों पर हाथ धरे लेटा हुआ है। उसके सोने का ढंग जितना सरल है, उतने ही हृदय-द्रावक हैं उसके नगे पैर, मालूम पडता है कि, उसकी मास-पेशियाँ सजी ही हैं।

इस चित्र का एक छोटा-सा इतिहास है। लेनबाक की पूरी इच्छा रही थी एक इटालियन बालक को चित्रित करने की। उनके धूप खाये हुए पैरों का रंग यथार्थ में भूरा होना चाहिए



प्रकृतिवाद के जन्मदाता हैं एमिलि ज़ोला । उसके पहले गोतिए ने फ्रांस में यथार्थवाद की विजय घोषणा १८५७ में कर दी थी । मगर उनके 'वाद' में बहुत अधिक हानिकारक मंतव्य नहीं थे । उन्होंने कुछ कुत्सित सत्यो को कल्पना के सहारे खिलाया अवश्य था, किंतु कला के सत्य को भी आप संपूर्णतया भूल नहीं बैठे थे । कला के सत्य से हमारा अभिप्राय है, नैतिक जीवन को श्री और सौंदर्य के अभाव-हाहाकार को ओट के चिरंतन सत्य से । संभव है, कोई चित्र साधारण की दृष्टि में कुत्सित, धृष्ट और अपवित्र प्रतीत हो, पर शिल्पी को तो खूबी है उसी में अनुपम सौंदर्य-श्री मंडित कर देना । पंक असुंदर है, किंतु वह कमल को जन्म देता है । अतः यह कोई बात नहीं कि, किसी कुत्सित चित्र का जिज्ञा ही न हो, हो और खूब हो; पर कुत्सित कह कर नहीं । जहाँ कलाविद् की धारणा ऐसी हो उठे, समझना चाहिए कि, वे सफलता से कोसों दूर हैं । ऐसा यथार्थवादी शिल्पी भी स्वीकार करते हैं कि, शिल्प केवल वास्तव की प्रतिच्छवि न होकर उस अनुभूति का प्रकाश है, जो वास्तव के सहारे मन में हो । अनुभूति भी जैसी-तैसी नहीं, शेली ने कहा है—

"Nor heed nor see what things they be.

But from these create he can

'Things more real than living man,

The nurslings of immortality."



कता ही वह वस्तु है जो शिल्पी के अंतर्जगत की प्रतिध्वनि है, अंतर की सौंदर्य-भावना का स्वरूप है, कमनीय कल्पना का आविष्कार है। नहीं क्या ?

और आगे आइए। प्रकृतिवाद ने तो इससे भी गजब का गुल खिलाया। यों तो यथायथ प्रकाश करना ही दोनों वादों का अभिप्राय है, किंतु दोनों में अंतर है। यथार्थवादी अच्छे-बुरे दोनों को डूब-डूब चित्रित कर देता है, लेकिन प्रकृतिवादों के लिए समस्त विश्व में अच्छा कुछ है ही नहीं। इतने पर भी जोला बराबर अपने शिष्यों से कहा करते थे कि यदि उपन्यास लिखना चाहो तो अपने अगल-बगल के लोगों को गहरी दृष्टि डाल कर देखो; लेकिन तुम प्रेस-रिपोर्टर तो हो नहीं; इसलिए जो घटनाएँ नज़र के सामने से गुज़रें, उन्हें शृंखला में आवद्ध करते हुए तुम्हें अपना वक्तव्य ठीक करना होगा।

इससे प्रकट होता है कि, कल्पना का सहारा लिए बिना इनका भी काम नहीं चलता था। फिर तो यह कहना व्यर्थ है कि जहाँ कल्पना को सहायता ली जाती है, वहाँ यथार्थवाद और प्रकृतिवाद (Realism और Naturalism) का वह तात्पर्य नहीं रह जाता, जैसा लोग समझा करते हैं।

अब रही बात आदर्शवाद (Idealism) की इसके लिए एक अत्यंत छोटा-सा उद्धरण ही पर्याप्त होगा। गुइडो रेनी



में मँडराते देखा करते हैं; कभी ऐसा भी ज़माना था जब उसकी वू भी नहीं थी। तो क्या वह निराधार कल्पना-प्रसूत है ? नहीं, उसका सबकु हमने पक्षियों में पाया। अतः कला उस जगत की वस्तु है, जहाँ यथार्थ और आदर्श का विरोध नहीं हो। यथार्थ और आदर्श के सम्मिश्रण से शिल्पी के हृदय में जो सरस सुंदर अनुभूति होती है, उसी का मार्मिक वाह्य प्रकाश ही कला है।

फ्रांस के विशेषज्ञ अर्रो वार्गसों ने शिल्प-संबंधी एक निबंध में उल्लेख किया है कि, मनुष्य साक्षान् की वास्तविक सत्ता को देख नहीं सकता, इसलिए वह प्रत्येक वस्तु को एक श्रेणी में रख कर देखता है। प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से किन्हीं अंशों में विभिन्न है, स्वतंत्र है, किंतु इस स्वतंत्रता का कोई स्वाद मनुष्य पा नहीं सकता। हम वस्तु मात्र को देखने में असमर्थ हैं। हम उसे देखते हैं उस लेविल की सहायता से, जो उन पर चिपका हुआ रहता है। हमारे देखने की यह अवस्था केवल वाह्य वस्तुओं तक ही सीमित नहीं, वरन् अंतर की भी किसी अभिज्ञता के विशेष रस का हम परिचय नहीं पा सकते; अतएव उन्हें भी श्रेणी-मुक्त कर संतोष की साँत लेते हैं। व्यक्ति का व्यक्तित्व इस प्रकार से छिपा फिरता है। इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि जिस प्रकार हम वास्तव के बाहर हैं, उसी प्रकार हम व्यक्तित्व के भी बाहर हैं। किंतु प्रकृति कभी-कभी किसी को जीवन के इस त्यूल क्षेत्र से





में वेदना, आनंद और कलणा का जो उत्स प्रत्यह स्फुरित होता है, वह और कहाँ मिलेगा ! यहाँ आवाल-वृद्ध-वनिता के मुख-मंडल पर जीवन की नाना अभिन्नताओं को जो छवि भासमान है, जो दीप्ति है, वह विश्व के किस रंगमंच पर, किस चित्रशाला में दृष्टिगोचर होगी ? पत्तों के मर्मर संगीत में, स्रोतस्विनी की कक-कल ध्वनि में, भ्रमर की गुन-गुनाहट में, पंचियों के और शत-शत मानवों के कंठों से जिस संगीत की मधुरता विलुंठित होती है, वह कलाविदों की कौन-सी कर्मशाला या संगीतालय में मिलेगी ?

कला की साधना है—किसी सत्य को अखंड और स्वतंत्र अभिव्यक्ति । कलाविद का स्वर (संगीत), तूलिका (चित्र) हथौड़ा (भास्कर्य) और लेखनी (साहित्य) जिस किसी विषय को चुनती है, उसे अखंड और स्वतंत्र रूप में व्यक्त करती है। मानों विश्व में कुछ है तो, वस, यही है—चाहे वह विषय प्रेम का हो या सौंदर्य का । इसीलिए यौन-मिलन की गीति होने पर भी शेक्सपियर की Antony और Cleopetra Romeo और Juliet; टॉल्स्टॉय की Anna Kareina आदि संसार में अमर हैं । शेक्सपियर के नाटकों के पात्रों में हम हृदय-आवेगों के जिस घात-प्रतिघात का भोषण-स्वरूप देख पाते हैं, हमारे मन में भी ठीक ऐसा ही कुछ सघर्ष मचा रहता है, पर समाजगत संस्कारों से

छोड़ने से नहीं चूकते । इमीलिए शेक्सपियर-द्वारा प्रस्तुत किए गए पात्रों के प्रति हमारे हृदय में सहानुभूति होती है, वे बड़ी तीव्रता से हमारे हृदय को स्पर्श करते हैं ।

अमर चित्र शिल्पी रुयेन्स का प्रसक्त हरक्युलिस (Drunken Hercules ) नाम का एक चित्र है । नरो में विशालकाय हरक्युलिस मत्त है और आस-पास नम्र सुंदरियों के चित्र । उस मत्तव में उसकी आत्मा की शक्ति न मालूम कहाँ खो गई । एक ओर पाप और दूसरी ओर लालसा ( चित्र में एक ओर पाप की एक कदाकार वीभत्स मूर्ति और दूसरी ओर मोहिनी लालसा की एक अतीव सुंदरी मूर्ति के रूप में कल्पना की गई है और दोनों साकार हैं ) उसे किसी अनजान पथ की ओर खींचे लिए जा रही हैं । चित्र यद्यपि वीभत्स है, तथापि उसकी आद में जो दिव्यता है, कला का जो सत्य प्रतीयमान है, यही उसे अमरता दे सका है । उस अश्लीलता में इतनी शक्ति नहीं कि, चित्र का वहिष्कार करा सके । कोई उसे भद्दा और कुत्सित कह सकता है और है भी, किंतु उसमें एक ऐसी अवस्था चित्रित है, जो बड़ी सुगमता से, बड़ी शीघ्रता से मानव-हृदय को छू लेती है तथा उसके प्रति सहानुभूति-अर्जन कर लेती है ।

मनुष्य न तो पशु है और न देवता, प्रत्युन् वह मनुष्य है । उसमें जब क्रोध और भक्तता आ जाती है तब वह मनुष्यता की सीढ़ी से बहुत-कुछ खिसक जाता है और उसको, उस समय की, अवस्था को हम पशुता कहते हैं । कभी ऐसा भी समय आता है कि उसकी करुणा, उसका त्याग मनुष्यता की सीमा को अतिक्रम कर और भी ऊपर उठ जाता है । ऐसी अवस्था को हम उसका महत्त्व अथवा देवत्व की संज्ञा से अभिहित करते हैं । इन्हीं तीनों अवस्थाओं के दर्शन मानव-जीवन में समय-समय पर पाये जाते हैं । किंतु जो बराबर देवता ही बना रहता है, अथवा पशुता हो जिसकी रात-दिन की संगिनी है, उसे हम मनुष्य नहीं कह सकते, बरन देवता और पशु कह सकते हैं । पर यह अस्वाभाविक बात है । सब प्रकार से, सब समय मनुष्य को मनुष्य ही होना चाहिए । इसीलिए हम देखते हैं कि, जो कलाविद् अपनी कृति में मनुष्य-जीवन को इसी उत्थान-पतन के साथ चित्रित करता है, वही सफल भी होता है । उसी कृति में हमें आनंद आता है । क्योंकि उसमें मर्मस्पर्शिता रहती है । उसके सुख-दुख और दैन्य-दरिद्रता में हम अपनी अवस्था का ही प्रतिबिम्ब पाते हैं ।

सब तो यह है कि, प्रकाश हमें उज्ज्वल और मधुर इसलिए मालूम पड़ता है कि बंधकार कहकर भी एक वस्तु है । सुख में



ही उच्चतम अवस्था को पहुँच सकता है। उसकी दुर्बलता यह है कि वह उच्चतम अवस्था प्राप्त करके भी भ्रष्ट हो सकता है। दुराचारियों की जिन वीभत्स कृत्यों से हमारा चित्त उद्धिन्न हो उठता है, वे भी जीवन की एक अवस्था की सूचना देने के लिए आवश्यक हैं। मनुष्य के लिए अधःपतन की पराकाष्ठा जितनी सधी है, उतना ही सच्चा उसका अभ्युत्थान भी। यही कारण है कि, जिन विश्व कवियों ने हमें जीवन की उच्चतम अवस्था दिखा-लाई है, उन्होंने जीवन की निम्नतम अवस्था की भी उपेक्षा नहीं की। यही नहीं, उन्होंने श्रेष्ठ चरित्रों में भी मनुष्यों की स्वाभाविक दुर्बलता प्रदर्शित कर दी है।”

— ‘विश्वसाहित्य’ पृ० १८९

### कला के रूप

संसार में जितने प्रकार की कलाएँ सृष्ट हो चुकी हैं, उनके दो रूप हैं। पहला वड है, जिसे मनुष्यों ने अपने जीवन के अभावों की पूर्ति के लिए सृष्ट किया है। जैसे जीवन के लिए भोजन एक अनिवार्य पदार्थ है। क्योंकि खाद्य के बिना मनुष्य जी नहीं सकता, ऐसा वैज्ञानिक सत्य है। इस अभाव की पूर्ति के लिए मनुष्यों ने नाना प्रकार के खाद्य-पदार्थों को उपजाने का, न मालूम, कितनी विधियाँ आविष्कृत की हैं। फिर उनके रंधनकी



नहीं पहुँचाता । भाजन भूख को औषधि या क्षुधानिवृत्ति का एक अवलंब है । अभिप्राय यह है कि भोजन की उपयोगिता है; और वह है भूख बुझाना । यह तो जिन-तिन चीजों से ही पेट की आग बुझा ली जा सकती है । परंतु नहीं, हम रोटी बनाते हैं तो हमारा खयाल सर्वदा उसे पतली करने की ओर रहता है; फिर उसे भी गले से नीचे उतारने के लिए दाल-शाक-भाजी, दूध-चीनी आदि की भी सहायता लेते हैं । खान-पान के पात्र जैसे-तैसे होने से भी उक्त कार्य में कोई बाधा नहीं पहुँचती । किंतु पात्रों की सुंदरता को भी हम नहीं भूल सकते । जिस स्थान पर भोजन करने बैठते हैं, उसके साफ-सुधरे न होने पर भी भोजन में हमारी रुचि नहीं होती और खाकर हमें वृत्ति नहीं होती । भोजन करानेवाले की ओर से मान-सम्मान में यदि कुछ भी त्रुटि पाई गई तो वह भोजन हराम हो जाता है । अब एक भोजन—प्रधान आवश्यकता—के लिए हमें इतनी संकटें मेलनी पड़ती हैं । क्यों ? सौंदर्य का घोष होने से । सौंदर्य यद्यपि देखने में एक अलग की वस्तु है, तथापि हमारे जीवन की साधारण-से-साधारण घटना में वह इस विचित्र तरीके से समा गया है कि, हम उसे जान भी नहीं पाते । आँख किसी वस्तु को इसीलिए देख लेती है कि, वह उससे दूर है; पर, वह आँख अपने पलकों को नहीं देख सकती । इसी प्रकार सौंदर्य का हमसे ऐसा घनिष्ठ संबंध है कि, हम यह भी





दूसरे रूप में कला वह है जो हमारे जीवन की प्रयोजनीयता पके है। उसकी सृष्टि मनुष्यों ने केवलमात्र अपने सुख के लिए की है। मानवों की जीवन-यात्रा से उसका ऐसा घनिष्ठ और आवश्यक संबंध नहीं कि उसके बिना हमारा काम ही न चल सके। इस प्रकार को कला का एकमात्र लक्ष्य है—मानवीय सुख-विधान। इसके बिना जीवन की धारा में किसी प्रकार की अविच्छिन्नता आने की संभावना नहीं। इसका नाम है ललित कला—Fine arts। संगीत, चित्र, भास्कर्य और साहित्य इसी के अंतर्गत हैं। सुंदर संगीत सुन कर, अच्छे चित्र देखकर या अच्छी कहानो-कविता सुन कर किर्मी को जीवन को सुंदर रूप में गठित करने की सहायता नहीं मिल सकती। इस विषय में आदिकाल से विद्वानों में बड़ा मतभेद होता चला आ रहा है। कोई कला उसे मानते हैं जो जीवन को सुंदर बना सके। Plato कह गए हैं—*We must look for artists who are able out of the goodness of their own natures to trace the nature of beauty and perfection that so our young men, like persons who live in a healthy place, may be perfectly influenced for goods.*

दूसरे पक्ष का कहना है—

*'I do it because I must  
And I do it as the pinnets sing.'*



इस आकस्मिक आकर्षण का मूल है—कल्पना । कल्पना उसके हृदय-मंदिर में उस रमणी की उस मोहक मूर्ति को बिठला देती है और तब दिल बे-अख्तियार हो उठता है ।

वास्तव जगत् के अभिन्न संस्पर्श से जब हमारी आत्मा एक-आध घड़ी के लिए उब उठती है, तब वह कल्पनाश्रित विषयों की ओर दौड़ पड़ती है । वहाँ उसे कुछ शांति मिलती है, तृप्ति का बोध होता है, संतोष होता है । इस श्रेणी की कला की सार्थकता मनुष्यों की इसी तरह के सुख-विधान में है ।

अच्छा, कल्पनाश्रित विषय से मन सुखी क्यों और कैसे होता है ? कल्पनाश्रित विषयों में एक प्रकार की नवीनता या विचित्रता रहती है । उसके द्वारा हम एक ऐसी वस्तु से परिचित होते हैं, जिसके दर्शन हमें वास्तव जगत् में नहीं होते । मन को एक ऐसी वस्तु मिल जाती है, जिसे मन चाहता है । नवीनता से ही मन को प्रफुल्लता मिलती है । सहज-सुलभ वस्तु में वैचित्र्य नहीं रहता और जहाँ वैचित्र्य नहीं, वहाँ सुंदरता कहाँ ? परंतु सहज में प्राप्त न होनेवाला होने पर भी सुंदर अलौकिक पदार्थ नहीं । अलौकिक होने से ही तो तृप्ति कम जाती है और फिर वह हमारे आनंद का कारण नहीं रह जाता ।

जगत् की सृष्टि के विषय में उपनिषद् में एक त्याग पर आता है—ज्ञानंदायैव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । ज्ञानं देत



न जाने क्या रहित मे हो  
 तुम्हें इंगित करना क्या प्रीति ।

—५१

तब मैं ही मन है, एक ही विद्वान है । श्रुति से  
 जन्म-ध्वनि जब रुचि से हृदय-भट पर टकराकर आपका दर्शन  
 है तब जब सच-सुंदर ने उनका पूरा परिचय देया है । खोजनाय  
 करते हैं—

आकाश आनाथ ठाके दूरे पाने  
 नागविहीन अज्ञानिठेर पाने  
 लखन लखि पगल मनदाने  
 काहार बाँगी पमन गनोर न्वरे !

जमाने भाषाविहीन प्रत्येक गीत गाना कर आकरा तुम्हें  
 सुंदर की ओर बुलाना है, नॉन्-नवरे किन्नी परी इस तरह की  
 गनार-ध्वनि से हमारे हृदय को गीतना है ।

किंतु आध्यात्मिक कवि ए. ई. ने तो उस अन्त की, निगूढ  
 क अग्रज अभिव्यक्ति का अनुभव ही नहीं किया उसे पकड़ कर  
 सब किया उस सच-सुंदर क आपने भावावेग में आँसू मूँद कर  
 आनिगत हा नहीं किया बरन स्थिर नेत्रा से उस देखा । इसी-  
 निरु वे दूर से केवल आभास-इंगिता स ही उनके दर्शन नहीं  
 कराने, कहत हैं,—



न जानें तपक तड़ित में कौन  
मुझे इंगित करता तब मौन ।

—पंत

सब में एक ही प्रश्न है, एक ही जिज्ञासा है । प्रकृति को आनंद-ध्वनि जब कवि के हृदय-पट पर टकराकर आघात करती है तब उस सत्य-सुंदर से उसका पूर्ण परिचय होता है । खॉद्रनाय कहते हैं—

आकाश आमाय डाके दूरेर पाने  
भापाविहीन अजानितेर गाने  
सकल साँके परान ममटाने  
काहार बाँशी एमन गभीर स्वरे !

अर्थात् भापाविहीन अज्ञेय गीत गा-गा कर आकाश तुम्हे सुदूर की ओर दुलाता है, साँक-सदरे किसी दंशी इस तरह की गभीर ध्वनि से हमारे हृदय को खोंचती है ।

किंतु आध्यात्मिक कवि ए ई, ने तो उस अनंत की, निगूढ़ की अमृत अभिव्यक्ता का अनुभव ही नहीं किया, उसे पकड़ कर रख लिया । उस सत्य-सुंदर का आपने भावावेश में आँखें मूँद कर आलिंगन ही नहीं किया, वरन् स्थिर नेत्रों से उसे देखा । इसी-लिए वे दूर से केवल आभास-इंगितों से ही उनके दर्शन नहीं कराते, कहते हैं,—





जो नाद-ब्रह्म कहा जाता है। नाद-ब्रह्म की परिवर्तनावस्था है—ध्वनि। आदि युग से आत्मा में यह उद्भास समाहित है और वही सुर के रूप में, ध्वनि में अभिव्यक्त होता है। किंतु आत्मा की प्यास गीत के इसी स्वरूप से वृत्त नहीं हो जाती, इस गति को जो धारा है, धारा में जो रूप है, उसे आँखें भर कर देखने की आकांक्षा भी हमें विकल बनाए रहती है। इसी व्याकुलता से पिंड छुड़ाने के लिए चित्र में हम उस अरूप को एक निर्दिष्ट सीमा में चित्रित कर देते हैं। फिर भी वृत्ति नहीं होती।

‘जनम श्रवधि हम रूप निहारिनु  
नयन न तिरपित भेलः’

तब क्या चाहिए और ? श्रवण-दर्शन की लालसा ने स्पर्शन की भी लालसा को भड़काया। फिर—

‘प्रति अंग लागि कौंदि प्रति अंग मोर—’

प्रत्येक अंग से मिलने के लिए हमारा प्रति अंग रोने लगा। इसके दाद ही भास्कर्य की उत्पत्ति। भास्कर्य से गीत को वस्तु सत्ता कायम हुई। उसके दाद एक सर्वथा नूतन अभाव खडका। वह यह कि अशरीरो संगीत को चित्र में रूप और आँखें मिलीं, भास्कर्य में उन सूक्ष्म देह को स्पष्ट रूप में परिणत किया गया, पर सब मूक, काव्य से उसकी मूर्च्छा विनष्ट हुई।

ललित कला में काव्य का स्थान इतिहास सर्वोपरि है। काव्य

also the reason why if we insist on asking for the meaning of such a poem we can only be answered. It means itself.'

अर्थात् यह भी एक कारण है कि जब हम पूछते हैं कि ऐसी कविताओं के अर्थ क्या है तब इसका एक ही उत्तर—इसका अर्थ यह स्वयं ही है—पाया जा सकता है ।

इसमें Art for the sake of art वाला विवाद उठ सकता है; पर यहाँ उससे कोई मतलब नहीं । मतलब यह है, कि उन अवसरों पर लोग कला की दुहाई देते हैं । और वह इसलिए कि, उसके स्पष्ट रूप को बताने का कोई उपाय नहीं रह जाता । कला का प्राण रस है और रस का प्रत्यक्ष रूप दिखाया ही नहीं जा सकता । उपनिषद् कहती है—'रसो वै सः । रसंहेवायं लब्ध्वा-नन्दी भवति ।'—अर्थात् वे रस स्वरूप हैं । इमों रस की उपलब्धि कर मनुष्य को आनन्द प्राप्त होता है ।

काव्य की उससे से भी एक उत्तम परिभाषा है । 'चित्रं वाक्यं काव्यं' ।—जो वाक्य चित्र है वही काव्य है । चित्र से मनोमुग्धकर भाव निकलता है । चित्र का गुण चित्र को मुग्ध करना है । काव्य में संगीत है और चित्र भी, किंतु काव्य के चित्र की विशेषताएँ चित्र नहीं पा सकती । चित्रकार प्रकृति के सौंदर्य को, जी के रूप को मनोहारि और आकर्षक ढंग से चित्रित



कागहिं उड़ावै कबौं कबौं करै सगुनौती  
 कबौं बैठि अवधि के बासर गिनति है ।  
 पढ़ी पढ़ी पाती कबौं फेरि कै पढ़ति  
 कबौं प्रीतम के चित्र मे स्वरूप निरखति है ॥”

विरह में प्रेम की जो व्याकुलता हृदय में होती है, उसकी सुंदर अभिव्यक्ति में कवि ने अपनी खासी कुशलता का परिचय दिया है । मानो उस स्त्री के हृदय को खोल कर रख दिया है ।

रामचंद्र के साथ जब सीताजी वन को जा रही थीं, उस समय के वर्णन में तुलसीदासजी ने मर्मस्पर्शिता कूट-कूट कर भर दी है; चित्र में शायद ही हम ऐसी आशा कर सकते हैं ।

“पुरते निकसी बधुचीर बधु धरि धीर ह्ये मग मे अग है ।  
 कलकी भरि माल कनी जल की पटु गूव गये मधुराधर मे ॥  
 फिर वृक्षति है चलनाऽव किने पिय पर्णकुटी कन्हो किन है ।  
 नियकीलखिआनुगतापियकी अँखियाँअनिआरुचलीजल करी ॥”

सीताजी की आनुगता में उनकी कोमलता बड़ी सुंदरता में प्रकट हुई है और राम की आँखों के आँसुओं में तो प्रेम की व्याकुलता को मार्मिक रूप में दिया है और आदिष्ट ही क्या ?

‘रहिअन आँसुआ नयन दरि, तिय दुअ प्रकट करेय ।  
 आदि निकारो मोह ते, कम न बेद कही बेय ॥’

लेखिका जी की यह सूक्ष्म अविश्वसनीय व्यक्तभाव है । हम

की अधिकाता बुद्धान गोलने का अवसर प्रायः नहीं देती, किंतु  
श्रेम भी छिपाये जैसे छिपे ?

'जां पे मुख्य बोलै नहीं नैन देत हें रोय ॥'

निगोफ हृद में सेनापति ने दाए-स्तौदर्य को खासी जमि-  
न्यक्ति तो की ही है, स्मरणी के तदय को भी दिखाया दिया है—

'फलन सौं बाल की बनाईं गुही देनी ताल  
भात दीन्हीं देन्ही एग मद् की छसित हें ।  
अंग-अंग रूपन बनाइ ब्रजभूपन जू  
दीर्घा निज परते खवाह इति हित हें ।'  
हो है रसदस एव हीवे को महादर के  
सेनापति स्वाम गणों खरन तलित हें ।  
पूनि हाथ नाथ के लगाए रहि स्तौपित सौं  
बही प्रानरति ! यह सत अरुचित हें ।



—यही तो है जीवन का गान  
सुख का आदि और अग्रस्तान!

कविता के लिए विषय की उतनी प्रधानता नहीं, प्रधानता है भाव की और विशेष कर भावों को अभिव्यक्त करने के ढंग की, शैली की। प्रसंगवशा हम ऊपर कहीं कहा आए हैं कि भाव, विषय या तत्त्व ता सर्वसाधारण के भी होते हैं, उसे व्यक्त करने का ढंग ही कवि, साहित्यिक या कलाविद् का अपना है। जो सदा कवि संसार में अमर हो गए हैं, वे इसी कृतिच के दल पर। कवि के संबंध में कहा गया है—

जानाते यत्र चन्द्राशौं जानन्ते यत्र योगिनः।

जानाते यत्र भर्षोपि तज्जानाति कवि स्वयम् ।

प्रत्येक कला अपने में स्वयं पूर्ण है तथापि मनुष्य का एक मम-निर्देश किया जा सकता है किन्तु विभिन्न स्तरों में रहने जाने पर भी छोट बड़े या बड़बूढ़ नहीं। हमारा वह वह अंगों की समष्टि है। अपने-अपने कार्य के अनुसार स्वयं बने हैं। फिर सबसे ऊँचा होने पर भी हम-वैर स्वयं ही लक्ष्य नहीं प्रकट होती। क्योंकि देह के लिए फिर विभिन्न आवश्यक है हम-वैर ही भी उतनी ही आवश्यकता है। बरन देह का उपकरण है और भी अधिक है कि वह स्वयं ही लक्ष्य है।



शिरसिमंडनम्'.....वस कवि एकाएक रुक गए । फिर श्रीकृष्ण ने स्वयं आकर छल से उसे यों बना दिया—देहिपद-पल्लवमुदारम् । 'चूमि हाथ नाथ के लगाये रही आँखिन सो'—भाव का यह रूप वाकई कमाल है । किसी भी बड़े-से-बड़े चित्र-शिल्पी के लिए यह असंभव है । वह नारी के सौंदर्य की पराकाष्ठा दिखला सकता है । चंद्रमुखी, मृगनयनी, केहरि कटि, व्यालत्रेणी आदि का सुंदर समावेश अपने चित्र में इस खूबी से कर सकता है कि संभव है, कवि को काव्य में उतनी सफलता न प्राप्त हो, पर ऐसे भाव को चित्रकार क्या कभी ऐसा रूप दे सकता है ?

केवल चित्र और उपमा से ही नहीं, भाव को रूप देने में कविता अद्भुत क्षमता रखती है । जैसे प्रसाद की निम्नोक्त पंक्तियाँ—

‘जो घनीभूत पीडा थो  
स्मृति-सी मस्तक पर छाई,  
दुर्दिन में आँसू बनकर  
वह आज बरसने आई ।’

अथवा पंत की—

‘प्रथम दृष्ट्या का पाराधर,  
सुखद आशा का स्वर्गभास;  
स्नेह का वासंती-संसार  
पुनः उच्छ्वासों का आकाश !’

—यही तो है जीवन का गान  
सुख का आदि और अन्तान!

कविता के लिए विषय की उतनी प्रधानता नहीं, प्रधानता है भाव की और विशेष कर भावों को अभिव्यक्त करने के ढंग की, शैली की। प्रसंगवश हम ऊपर कहीं कह आए हैं कि भाव, विषय या तत्त्व या सर्वसाधारण के भी होते हैं, उसे व्यक्त करने का ढंग ही कवि, साहित्यिक या कलाविद् का अपना है। जो सत्र कवि संसार में अमर हो गए हैं, वे इसी कृतित्व के घल पर। कवि के संबंध में कहा गया है—

जानाते यन्न चन्द्राकीं जानन्ते यन्न योगिनः।  
जानाते यन्न भर्गोपि तज्जानाति कवि स्वयम् ॥

प्रत्येक कला अपने में स्वन पूर्ण है तथापि सद का एक मन्म-निर्देश किया जा सकता है। किंतु विभिन्न स्तरों में रहे जाने पर भी छोटे दूरे का सबल नही। हमारे देह कई जगों की समष्टि है। अपने-अपने कार्य के अनुसार सभी रूढ़े हैं। फिर सबसे ऊँचा होने पर भी हाथ-पैर आदि की नापना नही प्रकट होती। क्योंकि देह के लिए फिर जिन्ना आवश्यक है हाथ-पैर की भी उतनी ही आवश्यकता है वरन् पैर की उन्नतता के और भी अधिक है कि वह सबसे टोटा चलता है।



है या जिस वस्तु को कुत्सित कहता है, वह सब समय कुत्सित ही रहता है, ऐसा भी नहीं होता । जिस वस्तु को हम सुंदर समझते रहे हैं, कभी ऐसा समय आता है, कि जब उसके अंदर हम एक शोचनीय निर्जावता का स्वरूप देखते हैं और तब लाख चेष्टा करने पर भी हृदय उसे सुंदर कहना स्वीकार नहीं करता । इसके विपरीत जिसे हम आदि से बुरा कहते आ रहे हैं, कभी-कभी उसी में एक ऐसी वस्तु हमें दृष्टिगोचर होती है, कि जब उसे सुंदर कहे बिना हम नहीं रह सकते । इसीलिए बहुतों की राय है कि, सौंदर्य एक मानसिक अवस्था है । सौंदर्य यदि वस्तुगत अथवा बाहर का होता तो यह विपरीतता नहीं नज़र आती, जब एक ही वस्तु को एक व्यक्ति सुंदर एवं दूसरा असुंदर कहता । इस विरोधीभाव से यही पता चलता है कि मनुष्य की सौंदर्य-वृत्ति शिक्षा और सत्कार पर अवलंबित है ।

किंतु मन पर विभिन्न इन्द्रियों का प्रभाव पड़ता है और बहुत समय वह इन्द्रियों का ही दास पाया जाता है । इसलिए उसमें भ्रांति की संभावना है । हम देखा करते हैं कि, मन अधिकतर आकृष्ट होता है रूप-रस की ओर, और उसी के सुख को बड़ी सुगमता से सुख मान लेता है । तो क्या इसी फैसले पर हम निर्भर कर लें कि, मन का ही सुख सच्चा है और जिसके द्वारा सुख की प्राप्ति होती है, वही सुंदर है, उसी में सौंदर्य है ?





और गंध में भी वह सुंदर होता है। इसलिए इसके दो पहलू हैं। एक सुंदर तो वह है जिसकी प्रयोजनीयता अथवा उपयोगिता हमें सुगंध करती है, पर सुंदर हमको किस कारण या किस प्रकार सुगंध करता है, इसका पता नहीं। समस्त प्रकृति में एक असत्य निहित है और यह सत्य हम प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध कर लेते हैं, क्योंकि यह इन्द्रियगोचर है। जो सौंदर्य इन्द्रियों-द्वारा बोध किया जाता है, वह अत्यंत ही स्पष्ट होता है, परंतु सौंदर्य की सीमा क्या यहीं समाप्त हो जाती है? नहीं, कुछ अंश प्रकृति का ऐसा भी है, जो प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्यों को प्रभावित करता है। इस प्रभाव को बुद्धि अपने में ले आती है। इससे सुंदर-असुंदर का भेद एक प्रकार से मिट ही जाता है। इसके साथ ही जब कल्याण-बुद्धि की सहायता मिल जाती है तब यह भेद रह ही नहीं जाता।

एक कवि ने सौंदर्य के परख की तां  
 छंद में बहुत ही सुंदर स है—

प्रेम कारीगर के अनेक रंग देखो यह,  
 योगिया सजाये बाल बिरिछ तरे खरी।  
 अंखियाँ में साँवरो, हिये में बसै लाल घड  
 बार-बार मुहते पुकारत हरी हरी ॥”

अथवा मीरा के हृदय में प्रेम का छत्र जिस सौंदर्य  
 से हुआ—

“मोहनी मूरति साँवरी खरति नैना बने बिसाल।  
 अथर सुधा रस मुरली राजित उर बैजस्ती माल ॥  
 छुद्र पंढिका कटि तट सोभित नूपुर शब्द रसाल।”

अब देखना है कि इस सुंदरता का अंतर उसके हृदय पर  
 कैसा पड़ा ?—

“घड़ी एक नहीं आवड़े, तुम हरसय दिन मोय।  
 तुम हो मेरे प्राण जी, काले जीपण होय ॥  
 धान न भावै नीद न भावै विरह सतावै मोद।  
 पायत सी घूमत फिरुं रे मोय हरद न जाये कोद ॥”

आवरण के अतिरिक्त लाभ होने से सौंदर्य ऐवय है  
 और वह मंगल के अंतर प्रकट होता है। मंगलमय वस्तुओं से  
 एतदा हृदय सौंदर्य से ओत-ओत झलिर नहीं होता कि वह  
 हमारे आवरण-तमों को दूर करती हैं वरन् हमें एक प्रत्यक्ष  
 सुख-अंजन दिखाने हैं जो हमारे तेज-तेज को खिलाने देता है।









वास्तव में बात यह है कि मंगल से हमारे मन का एक विचित्र मेल है। सत्य और शिव का सम्मिलन जब प्रत्यक्ष हो जाता है, तब सौंदर्य आप-से-आप पनप में जा जाता है। हमारे हृदयी देवी लम्बान रूप से सौंदर्य, ऐश्वर्य और मंगल की देवी हैं।

जब सौंदर्य और मंगल के सम्मिलन का स्वरूप शुरुआत इदपंगम पर लेता है तब उसके सामने पारने-सुरे का प्रथ ही नदी रहता। उसके आगे यह सारा विश्व सौंदर्यमय ही प्रति-गोचर होता है।

‘पत’ को सारा विश्व सुंदर ही सुंदर सोल पकता है—

“सुंदर सुदु-सुदु रज का तन,  
 चिर सुंदर सुन्द हुस का मन  
 सुन्दर शीतल लीला रे  
 सुन्दर सुन्दर      जग की देव



को हम तीन रूपों में पाते हैं—माता, कन्या और भाया ।  
 ने कहा है—

माता यस्य गृहे नास्ति भार्या च प्रियवादिनो ।

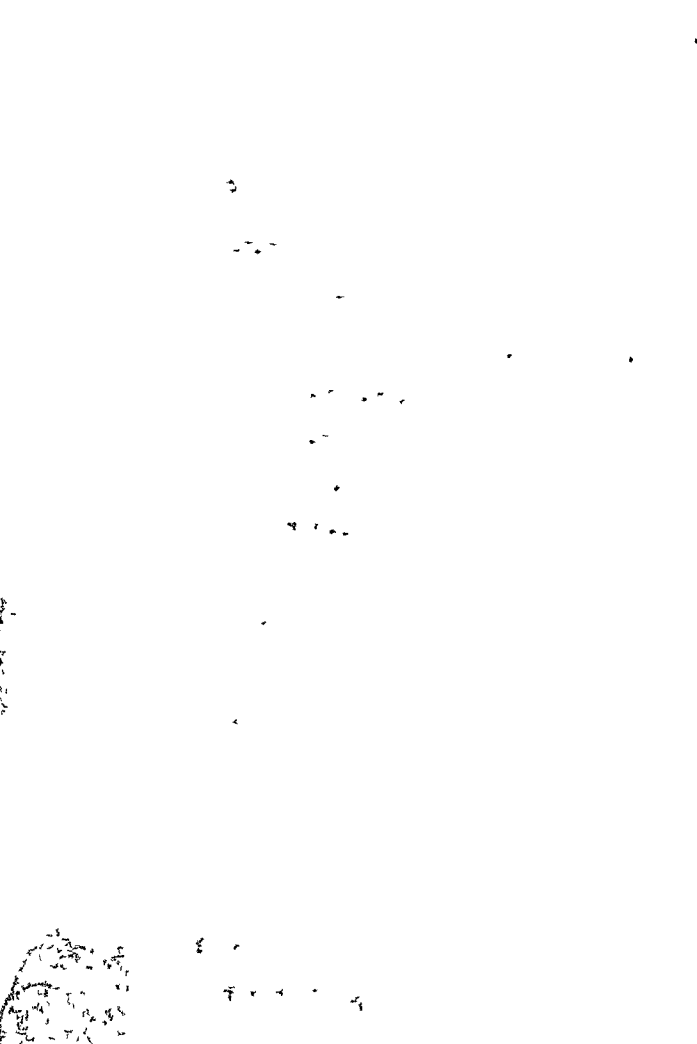
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम् ॥

किंतु कवि ने आरंभ ही में कहा है, तुम इन तीनों में से कुछ भी नहीं हो, न किसी घर में संध्या-दीप जलाती हो और न निशोथ में 'वासर-शय्या' की ओर जातो हो । तुम उषा के समान ही अनवगुंठिता हो । अन्यत्र भी आया है—

“स्वर्गेरु हृदयाचले मूर्तिमतो तुमि हे उषसी,  
 हे भुवनमोहन उर्वशी—”

उरु का अर्थ है, विलीर्य, बहुव्यापी; जति के नानी—  
 होओ । जो ऐसा हो उली का नाम उर्वशी है । उर्वशी का प्रया-  
 कांती या पुरुखा । पुरु अर्थात् प्रचुर और खस् नानी दामि ।  
 ऋग्वेद के दशम मंडल सूक्त ९५ में उर्वशी की एक कथा आती  
 है । विद्वानों की राय है कि उर्वशी कहते हैं उषा को और सूर्य  
 है पुरुखा । सूर्य के उदय होने से उषा भागती है । दान्ते की  
 एक कविता में यही भाव आया है,—

In a soft-complexioned sky  
 Fleeting rose and kindling grey  
 Have you seen Aurora fly  
 At the break of day.



सौंदर्य के लिए संयम का होना अनिवार्य है। संयत मनो-  
 वृत्ति के बिना हम सौंदर्य के सौम्यरूप के दर्शन नहीं पा सकते।  
 भोग की वानना से जय ननुष्य की प्रवृत्ति उग्र हो उठती है, तब  
 उसकी आँखें भी सौंदर्य को देखने की शक्ति खो देती हैं। सुंदर  
 को संभोग की दृष्टि से देखने ही से सब मिट्टी हो जाता है।  
 पार्वती ने जब मदन की सहायता से महादेव को वरा में धरने  
 का पेटा की, तब उन्हें दुँह की खानी पड़ी। दुष्यन्त और शर्त-  
 कता जब भोगलिप्ता से परस्पर आकर्षित हुए, तब उन्हें अनिश्चय  
 होना पड़ा। यज्ञ की वान के ही कारण निर्वासित होना पड़ा।  
 पुरुरवा जब वानना को परीभूत हुआ, तब वर्दगाँ का संग होकरने  
 पर उसे बाध्य होना पड़ा।

पुरुरवा जब तब लालला परपरा रहा, तब तब ने हर  
 शरनी प्रियतना को शरीरिका देखा रहा पर जिना के कृष्ण  
 ने जब उसको लाले कान्तारों उत्पन्न पर हाँगा तब पर  
 पर्वतों को पदार्थ देखने लगा था तो पर्वतों पर दुँहों को  
 देखकर लाले भग्न हुआ—





इन्द्र-धनुषी-पट से ढँक गत  
 बाल विद्युत् का पावस लास  
 हृदय में खिल उठता तत्काल  
 अघखिले अंगों का मधुमास,  
 तुम्हारी छवि का कर अनुमान,  
 प्रिये, प्राणों की प्राण !”

संयत होकर, विशुद्ध होकर सौंदर्य की उपासना करनेवाले व्यक्ति विश्व प्रकृति के प्रत्येक सौंदर्य में उस सर्व सौंदर्यमय की नौकी देख जाते हैं। सागर की तरंगों में गंभीर अंधकार में हँसती सी ज्योत्स्ना में, संध्या की गहरी लालिमा में, उषा की क्षिण आभा में, फल-मूलों में, वन-पर्वतों में, लोक-लीला में सर्वत्र सौंदर्य को देखकर मुग्ध होते हैं। उपनिषद् कहती है—आनन्द रूपममृतं यद्विभाति । जो कुछ प्रकाशित हो रहा है, दिखाई दे रहा है, उसका आनन्द रूप अमृत रूप है। ननुष्य की यही प्राप्ति प्रतिकूलित होती है कला रूप में। वह जहाँ नय को पाता है उसे पकड़कर अपनी किसी कृति में प्रयित कर देता है। किसी कवि ने कहा है, *Truth is beauty, beauty is truth*। सच ही सुंदर है, सुंदर ही सत्य है।

भारत के वन-जंगलों, देव-मंदिरों, पार्वत्य कंदराओं ने ननुष्यों ने सुंदर कला की सृष्टि की है। ननुष्यों-द्वारा सृष्ट सौंदर्य वहाँ









विचित्र प्रकार से समावेश है। आँखें कमल हैं और उनकी चपलता नदी की चपल तरंगों में प्रतिबिंबित है। कवि, जिनकी पहुँच वहाँ तक है, जहाँ तक किसी की भी नहीं, मानव शरीर की उपमा ढूँढ़े भी नहीं पाते। अतः उसकी सुंदरता की रक्षा के लिए कपड़ों का सुंदर होना अनिवार्य है। मानव-शरीर का लावण्य इसलिए अधिक मनोहर है कि, उसमें चेतना भी है। कारण है, किसी फूल की कोमलता, सुंदरता और सुगंध हमें उतना नहीं लुभा सकती, जितना मनुष्यों का मुख। कमल या चंद्रमा उसकी बराबरी क्या कर सके। क्योंकि चेतना ही तो सौंदर्य है। 'प्रसाद' ने कितना सुंदर कहा है—

“कोमल किसलय मर्मर रव से,  
जिसका जय घोष सुनाते हों;  
जिसमें दुख-सुख मिल कर मन के  
उत्सव आनन्द मनाते हों।  
उज्वल वरदान चेतना का  
सौंदर्य जिसे सब कहते हैं।  
जिसमें अनन्त अभिलाषा के  
सपने सब जगते रहते हैं !!”















हृदय न विदरेड पंक ज़िमि, विद्युरत प्रीतम नीर;  
 जानत हौ मोहि दीन्ह दिधि, यह यातना शरीर ।

यहाँ प्रेम और विरह के वर्णनों की पराकाष्ठा दिखाना अभीष्ट नहीं, देखना यह है कि मनुष्यत्व से प्रेम का कैसा संबंध है। जीवन क्या है ? सुख-दुख, हर्ष-शोक, आलोक-अंधकार की समष्टि ही तो। मनुष्य के जीवन की सार्थकता मनुष्य बनने में ही है। जीवन में सुख-दुख, आशा-निराशा का संघर्ष मचा ही रहता है। जिसने वेदना और निराशा का स्वाद नहीं मालूम किया, वह मनुष्यत्व से मानो कोसों पीछे पड़ा रहा। सुख का स्वाद दुख और वेदना से ही अनुभूत हो सकता है, इसीलिए अभाव के कारण ही हम मनुष्य बने हैं। अभाव के दिना हमें कितनी भी प्रकार से दटने की इच्छा उत्पन्न नहीं हो सकती। जब मनुष्य को अपने अभाव का ज्ञान होता है, तभी उसने उत्तरी पूर्ति के लिए इच्छा और इच्छा-जनित पेशा होता है। यही पेशा प्रेम का मूल है।

इस पर कुछ लोग ऐसा कह सकते हैं कि जिस में वेदना की इच्छा तो मनुष्य के लिए स्वाभाविक नहीं, वह तो जानने ही की अभिलाषा करता है। हाँ, सही है, मनुष्य जानने ही अभिलाषा करता है, पर इस संघर्ष का ही जीवन में आवश्यकता है। जमि प्रदर्शित करने के लिए

















पैसा स्वभाविकता है। चशोदा यह देख-देखकर हँसती।  
 अपने दोष दो द्विपाने के लिए दालक नाना-भौति के बहाने करते  
 हैं। अब दर चशोदा ने भी लोगों की शिकायत पर कान देकर  
 एक कृष्ण से कहा कि घर में दधि-भाखन के रहते तू दूसरों के  
 धर्मों धर्मों पोरों किया करता है, तब कृष्ण ने अपने को धचाने  
 का विधान सुंर मनसूया गौठा—

भैया मेरी, मैं नहीं भाखन खाबो। ✓

गोर भये गँवन के पाड़े मधुइन मोहि पठायो ।  
 पार पार पंसीबट भटबयो साँझ परे घर आयो ॥  
 मैं पातद पहियन दो छोटो छौंको किस बिघ पायो ।  
 श्यात-प्यात तब घेर परे है, दरदस मुख लपटायो ॥  
 ए जगल मन बाँ जति भागे इनके बड़े पतिषायो ।  
 शिर पर बटु भेद उपज है जान परायो जायो ॥









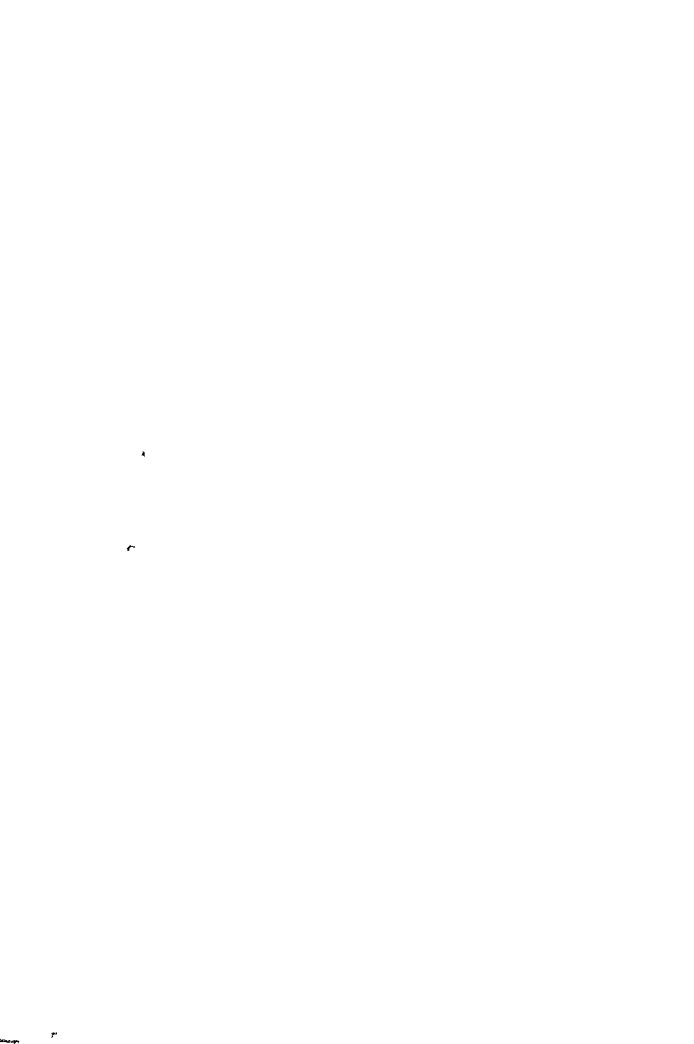
children and parents.

Of city for city, of land for land."

मनुष्यों में अपने वन्धुओं के प्रति अनुराग, मित्र-मित्र में प्रेम, पति-पत्नी में प्रणय, संतान और माता-पिता में स्नेह, नगर के लिए नगर और देश के लिए देश में आकर्षण है।

अतएव जब कला की कोई कृति हमारे सामने दुःख-दरिद्रता को लेकर उपस्थित होती है तब हमारी सहानुभूति उसके प्रति अनायास ही हो जाती है।

अतीत कला का प्रिय और मुख्य विषय है। किंतु ऐसी कुछ हवा चली है कि, कुछ लोग कहने लगे हैं, अतीत का कोई मूल्य नहीं और भविष्य अज्ञेय है; अतः उसको भी कल्पना निरर्थक है, किंतु सच तो यह है कि, मनुष्य अनंत अतीत को ही संतान है। वर्तमान अतीत के ही गर्भ से निकला है। जिस युग में हम निवास कर रहे हैं, निसंदेह इसका मूल्य बहुत अधिक है; किंतु विगत युग हम पर जो द्राप छोड़ गए हैं, उसे ही हम किस तरह अस्वीकार कर सकते हैं? अतीत की निधि में हमारे जितने मणि-काचन जमा हैं, वर्तमान में उनका प्राप्ति करना तो दूर रहा उनके दर्शन भी सम्भव नहीं। जन-तन्त्र के म-ष्ट रुवि वाल्ट-हिटमैन भी अतीत को अस्वीकार नहीं कर सके हैं—



क्या कोई अधिकार नहीं ? क्या जीवन की धारा उससे विजड़ित नहीं ? ज्योत में ही तो जीवन का मूल निहित है । वर्तमान में जीवन की शायद एक छोटी-सी भी झोंकी नहीं मिलेगी, जीवन के अधिकतर अंश पीछे पड़े रहते हैं । यहाँ तो वस, एक ही धातु पाई जाती है—नूतन और पुरातन का सम्मिलन । इसीसे संसार की सृष्टि है । कल तक जो था, आज के आगमन से उसमें नवीनता आ गई, कल उसका रूप हमारे आगे और भी नवीन प्रकट होगा । मनुष्य जो है, यदि वह सब दिन के लिए वैसा ही रह जाय तो संसार वृद्धमय हो जाय ; किंतु एक ओर असंख्य वृद्धों का देहावसान होता है, और दूसरी ओर संख्यातीव शिशु जन्म ग्रहण करते हैं । सृष्टि-क्रम की यह धारा अबाध गति से प्रवाहित हो रही है । पुरातन और नूतन का सम्मेलन यहाँ होता ही रहता है । रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—

उच्च हासे सकौतुके चिर प्राचीन गिरिर बुके  
 भरे पड़े चिर-नूतन भरना ,  
 नृत्य करे ताले ताले प्राचीन बटेर डाले-डाले  
 नवीन पाता घन श्यामल वर्णा ।  
 पुरानो सेइ शिवेर प्रेमे नूतन हये एलो नेमे  
 दक्ष-सुवा धरि उमार अंग ।  
 एमनि करे सारा बेला चलचे लुको-चुरि से  
 नूतन पुरातनेर चिर सग ।





















का अन्तर प्राप्त होता है, तो वह सुंदर होकर हमें अभिभूत नहीं  
 कर दे सकता। और कला में जब वह स्थान पा जाता है, तब हम  
 उसे एकाएक सुंदर कह उठते हैं। हम यथार्थतया सगे भाई को  
 भी पूर्णतया नहीं पहचानते। उसके जिस थोड़े से अंश को हम  
 पहच पाते हैं, उतने से ही हम उसकी एक पूर्ण कल्पना करते हैं।  
 इसी कारण कला यथार्थ की प्रतिच्छाया नहीं। उसमें जीवन  
 का जो रूप होता है, वह मनोहर होता है। सच्ची बात यह है  
 कि जिस वस्तु के प्रभाव से हृदय प्रभावित होता है, वस्तुतः  
 वह सुंदर है। उसी को हम कला में अभिव्यक्त करते हैं, क्योंकि  
 उसी सुंदरता में कुछ सृष्टि करने की प्रेरणा होती है। यों तो  
 संसार में विषय और तत्व अनंत हैं। सभी को अपनी ज्ञान-  
 सीमा के अतर्भूक्त कर लेना साध्य नहीं। उन तत्त्व और विषयों  
 में से कुछ ही हमारी आँखों में सुंदर रूप धर कर प्रतिबिंबित होती  
 हैं। हम कला में उसी सम्पूर्णता का आदर्श विभूषित करते हैं।

कार्य कोई भी उद्देश्य-हीन नहीं होता। इसलिए कला-नृष्टि  
 में भी कोई तात्पर्य अवश्य है। कला के लिए जीवन अवश्य  
 ही बना, किंतु जीवन के लिए कला को नृष्टि हुई। भाषा पहले  
 बनती है पीछे व्याकरण। यह मानवों की सयन-वृत्ति है। उच्छ्व-  
 सत्वता में आनंद नहीं, आनंद है सयन में। इसीलिए हम  
 अनेक कार्य में संयमित रहना पसंद करते हैं। सौंदर्य के अभि-



सतीना-रुद्रता के कारण देश और काल के अनुसार आदर्शों  
 में विभक्ति आ जाती है। प्राचीन युग के लोगों ने कला के  
 अर्थ-साधन में कोई कसर बाकी न रखी। उन्होंने पशुता से  
 स्वतंत्रता को ऊँचा उठाना चाहा और मन के अनुशीलन को  
 अर्थ-साधन बनाया। फिर भी दृष्टि-कोण में इतनी संकीर्णता आए  
 कि न रही कि, कला का भी कोई आदर्श हो। समाज, धर्म-  
 संहार, अर्थ-उत्पादन आदि आवश्यकताओं में कुछ सहायता  
 देने। फल-स्वरूप, तज्जनित कला उसी विचार के केन्द्रीभूत  
 रही। क्रमशः कला में सत, रज, तम—ये तीन प्रकार सन्निविष्ट  
 हुए। वर्तमान की कला और सभ्यो की कला के आदर्श भिन्न-भिन्न  
 हुए। जिन्होंने दैहिक व्यापारों में सुविधा उपस्थित करने के लिए  
 समाज की चर्चा की, उनकी कला तामसी और राजसी कला में  
 प्रो-भुक्त हुई। जिन्होंने धर्म अर्थात् समाज की कल्याण-  
 साधना में कला को नियोजित किया वह मन-बुद्धि का अनु-  
 शीलन सात्विकता-समन्वित हुआ। और इससे भी बढ़ कर  
 जिन्होंने आत्मा को अपनाया, वे आध्यात्मिकता के उन्नत राज्य में  
 पहुँचे। भारत की कला अंतिम भेदों की अथवा आध्यात्मिक  
 भारतीय आदर्श की यही विशेषता है।

अर्थात्, तो कला का आध्यात्मिकता क्या है ? यों तो मन  
 और बुद्धि के परे आत्मा का सौभाग्य विकसित हो, वही आध्या-





फिर पड़े थे। स्वर्ग की सुषमा, अमरता का स्वाद हमारी स्मृतियों  
 में सुरक्षित है। हम अमृत को संतान हैं, आनंद की संतान हैं।  
 आज भी प्रत्येक बात में हम कह लेते हैं—स्वर्ग उतर आया, सुषा  
 की तरह नीठी। तो क्या ये उद्गार नितांत कल्पित हैं ? नहीं,  
 जो का आभास है यह। हमें अपनी अपूर्णता विदित है।  
 इसलिए हमारा प्रत्येक अनुष्ठान हमें पूर्णता की ओर, अस्तु से  
 मृत्यु की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर, अंधकार से आलोक की  
 ओर ले जा रहा है। अस्तु कुत्सित है, मृत्यु असुंदर है, दुःख  
 निराणंद है। हमें अमृत चाहिए, आनंद चाहिए, सुख, शांति  
 और सौंदर्य चाहिए। एक मात्र यही जाकांता इस बात की  
 सूचक है कि, हम परमात्मा में मिल जाना चाहते हैं। कौन  
 फिर सुंदर है, कौन आनंदरूपमृत है ?—एक परमात्मा। और  
 जीवन का लक्ष्य उसी महानता में लय होना है।

किंतु इस मंगल-अनुष्ठान में सौंदर्य-प्राण कला का कौन-  
 सा स्थान है ?

कला से आनंद की उपलब्धि होती है और आनंद की  
 काल्पा रस है। फलतः कला वर रस है जितने आनंद का  
 प्रसव्य निर्गत होता है और रसों वै स। रस होवाय लब्धा-  
 नंदि भवति। अर्थात् वर रस है, उता रस का प्रसव वर एन  
 आनंद पाते हैं।



त्रि-लोक-संबंध स्थापित कर लिया है। इसीलिए हमारे  
 ही ईश्वर को भी कल्पना सौंदर्योपम की गई है। हमारे यह  
 प्राचीन काव्य-ग्रंथों में सौंदर्य ही की महिमा वर्णित है।  
 शब्द में बात यह है कि सौंदर्य रूप है। रूप पर आसक्ति है।  
 इसके कोई रूप नहीं, उसकी उपासना में तन्मयता नहीं होती।  
 भक्ति से प्रेम होता है और भक्ति भी। ईश्वर-प्राप्ति की ये  
 दो शाखाएँ सर्वोपरि हैं। इसी सौंदर्य-बोध के कारण हम  
 ईश्वर से प्रेम करते हैं। ज्ञान उससे दूर रहकर उसका संधान  
 करता है, पर प्रेम तो कहता है—

दिल के आँसुओं में है तस्वीरे पार ।

जब जरा गर्दन झुकाई देख ली ॥

अर्थात् प्रेम उसे वह सत्ता, अपने से अलग सत्ता नहीं  
 स्वीकार करता। प्राप्ति की अपेक्षा वह उसे प्राप्त समझता है।  
 संतोष की राधा कहती है—

दूधू, तुमि जे आमार प्रार ।

वेद मन आदि तामारे संदेति

सुखशील जति मान ! ८

८ श्री भगवान् उत्तर देने हैं—

तद रूप एव, नडा मधुरी, तद्वत् भक्त्या मार ।  
 बहि मधुनाद, तदा बहि मधु तद देव तद्वत् मार ।



कला है, जहाँ के लोग अधिक सभ्य हैं और उस देश की कला  
 प्रभावित कर मोहित करती है, जहाँ के लोग सभ्यता की  
 ओर कम अप्रसर हुए हैं। यह धारणा वास्तव में बड़ी भ्रामात्मक  
 है। केवल भ्रम में पड़ कर ही पाश्चात्य सौंदर्य-तात्विक कला के  
 अनेक स्तर में विवर्तन-वाद (Theory of Evolution) के  
 प्रभाव को हूँदने का अथक प्रयास करते थे। वास्तव में ऐसी  
 बात नहीं है। सौंदर्य परिष्कृत होता है अपनी परिपूर्णावस्था  
 में। उसमें क्रम परिवर्तन का किंचित् अवकाश नहीं, वह फलता-  
 दृढता है अपने आप में परिपूर्ण होकर ही, देश-काल का प्रभाव  
 उसे पथ-भ्रष्ट नहीं कर सकता। क्योंकि मनुष्य की अनंत जीवन-  
 शक्ति की असीमता ही उसकी सृष्टि का मूल है। उसकी सृष्टि  
 की प्रेरणा अंतर की अनंतता है। अतएव इसके दिग्गज ने यह  
 बताया कि अफ्रीका और आस्ट्रेलिया की कला में अपूर्णता है  
 और यूरोप की कला को पूर्णता-प्राप्त है—सर्वथा मूल है।  
 इसके लिए बला का मूल धर्म अथवा Philosophy का  
 ही ध्यान में लाना आवश्यक है। क्योंकि इसके लिए दिग्गज  
 के सिद्धांत और व्याख्या से निश्चय बलौरी नहीं। कला और  
 सृष्टि का ही सौंदर्य-प्रकाश है। इस कारण सभी देशों की  
 कलाओं का एक ही धर्म है। देश-धर्म से भारत स्वयं धर्म  
 में प्रवेश करता नहीं पड़ सकता। यूरोप की कला और भारत



इसे हवा खाने लगी, परंतु इस व्यापार को वे जो-सो फइकर  
को भी नहीं दे सके ।

जो भी हो, प्रेरणा के हिसाब से कला एक है, अखंड है ।  
किन्तु जो-कुछ पृथक्ता पाई भी जाती है, वह मात्र उपलक्ष्य  
के कारण । ललितकला की सार वस्तु को प्रकाशित करने के  
लिए रससत्ता में उसे स्थापित करने के लिए एक उपलक्ष्य की  
अवश्यकता है । किंतु उपलक्ष्य ही सब-कुछ नहीं है ।  
भौतिक दृश्य, मुख की छवि, चरित्र आदि कलाकार  
के रस-लीला के आधार मात्र हैं, इसके द्वारा रस को  
पचना की जाती है । अतः ये मुख्य वस्तु नहीं, गौण हैं । कविता  
के लिए कहा गया है—वाक्यं रसात्मकं काव्यं—अर्थात् रसमय  
वाक्य ही काव्य है । तात्पर्य यह कि, वाक्य काव्य नहीं, वाक्य  
में रस कह कर जो पदार्थ है, काव्य की सार्थकता उत्पन्न है ।  
सौंदर्य-सादी भाषा में हम उसे यों कहते हैं—भाव अनूठो चाहिए भाषा  
को । इसका काम केवल भाव को प्रकाशित





हुँ हवा खाने लगी, परंतु इस व्यापार को वे जो-सो कहकर  
आ भी नहीं दे सके ।

जो भी हो, प्रेरणा के हिसाब से कला एक है, अखंड है ।  
हि भी जो-कुछ पृथक्ता पाई भी जाती है, वह मात्र उपलक्ष्य  
के कारण । ललितकला की सार वस्तु को प्रकाशित करने के  
लिए सरसता में उसे स्थापित करने के लिए एक उपलक्ष्य की  
अनिवार्य आवश्यकता है । किंतु उपलक्ष्य ही सब-कुछ नहीं है ।  
प्रकृतिक दृश्य, मुख की छवि, चरित्र आदि कलाकार  
के रस-लीला के आधार मात्र हैं, इसके द्वारा रस की  
व्यंजना की जाती है । अतः ये मुख्य वस्तु नहीं, गौण हैं । कविता  
के लिए कहा गया है—वाक्यं रसात्मकं काव्यं—अर्थात् रसमय  
वाक्य ही काव्य है । तात्पर्य यह कि, वाक्य काव्य नहीं, वाक्य  
में रस कह कर जो पदार्थ है, काव्य की सार्थकता उससे है ।  
सीधी-सादी भाषा में हम उसे यों कहते हैं—भाव अनूठो चाहिए भाषा  
कौंज होय । भाषा गौण है, उसका काम केवल भाव को प्रकाशित  
करना है । रूप भी ऐसी ही वस्तु है । जामूपणों के अभाव में भी  
जिससे अंगों की शोभा घनी रहती है, उसी का नाम है रूप ।  
विल्यात कलाविद रॉदा ने कहा है—कला का सौंदर्य है आभ्यं-  
वरीण सत्य की अभिव्यक्ति । बाहर का सौंदर्य भीतर के रूप-  
प्रकाश का आधार मात्र है । नीले आकाश में रंगों के खेल,



संतपते पवन वेग चलैः पयोदै

राजेव चामर वरैरूपवीज्य मानः ।

जल-शून्य होने से मेव रजत शंख और मृणाल की नाई  
गल और हलके हो गए हैं । फिर हवा-द्वारा इधर-उधर होते  
चलते-चलते आकाश कहीं सुंदर चँवर-समूह-शोभित राजा  
नीति दीख पड़ता है ।

इसी पर विदेश के एक कवि की उक्ति है—

As a half reap'd furrow sound asleep  
Drowsed with the fume of poppies, while thy hook  
Sifts the next swath and all its twined flowers:

आधे छँटे खेत के हल-द्वारा बिदीर्ण गट्टों में शरत से रहा  
पौधों की गंध से उसका वेश जमता आ रहा है—निराने ने  
किसान के पासों और पौधों को जब तक उखाड़ नहीं टाका है  
खेतों के कवि कहते हैं—

तिमिर हरन भयो खेत है हरन सब  
मार्गों जगद एत सागर भग्न है ।

और खीन-खीन कहते हैं—

आकाशं तिमिर हरनं खेतं  
हरितं तिमिर हरनं

खोल पत. धन. और प्रकाश में लाले हरितों [उ] रहे हैं



वही प्रेरणा उसे अखंड सृष्टि करने को आतुर कर छोड़ती है  
वही प्रेरणा देश-काल के सर्वथा परे है ।

### कला का उद्देश्य

कला के विचारकों में कुछ ऐसे हैं जो सुनोति के पृष्ठ-भोषक  
हैं। उनकी राय में वह कला कला ही नहीं जो मनुष्यों की  
संज्ञाओं को जगाने में सहायता न पहुँचाती हो । कला  
एक मात्र उद्देश्य है—आदर्श उपस्थित करना । किंतु कला  
यदि यही उद्देश्य मान लिया जाय तो उसका अस्तित्व डँबा-  
कला हो जाय । क्योंकि कोई भी आदर्श कभी चिरत्याई  
हो रहा है, वह परिवर्तनशील है । कौन-सा आदर्श किस युग  
उपयुक्त समझा जाकर मनुष्यों को अपनी ओर आकर्षित  
करेगा, इसका क्या पता ? कला देश-काल के परे है, और  
इसी की सफलता तब है जब उसकी कला का मूल्य सभी  
युगों और कालों में आँका जाय । यद्यपि कोई दाव नहीं कि,  
कला में शिक्षा या सुनोति का ज्ञान अद्यतन है । यदि वह आ  
य तो बेजा नहीं । कला मंगल-उद्देश्य की पूर्ति में सहायक  
सकती है, किंतु शिक्षा का सारा प्रयत्न यदि इसी उद्देश्य  
ही तो मनुष्य के लिए संसार के अनैश्वर्य अज्ञान ही  
उनका ज्ञान सीमाभरत रा जाय । गेल्बर्ग ने रामायण  
रचना में इसी हेतु आदर्श उपस्थित करने को ही अपना

मुख्य उद्देश्य नहीं माना। मेथ्यु आर्नल्ड ने काव्य के विषय में कहा है—

“× × × Poetry is at bottom a criticism of life, that the greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life—to the question how to live”

कविता निगूढतम जीवन की आलोचना है। कवि की महत्ता जीवन संवर्धी सुंदर भावों को सुंदर अभिव्यक्ति में है। लेकिन इससे क्या नैतिक जीवन (moral life) ही समझना पड़ेगा। क्या कवि का कर्तव्य केवल सुनीति-संपन्न व्याख्या ही है?

इस पर एक अन्य विद्वान की राय है, “A poetry of revolt against Moral ideas is a poetry of revolt against life, a poetry of indifference towards life”, जो काव्य सुनीति का विद्रोही है, वह मनुष्य जीवन का भी विद्रोही है, सुनीति-रक्षा की ओर से जो काव्य उदासीन है, वह मनुष्य-जीवन के संबंध में भी उदासीन है। मतलब यह कि कला में सुनीति का होना अत्यावश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

किंतु कला इस उद्देश्य की सीमा को अतिक्रम कर गई है। कौट भी कलाविद इस आदर्श के अनुसार अपनी प्रतिभा देवा कर कला-सृष्टि में प्रवृत्त नहीं हुआ। निरंकुशा कला वह मर्मा प्रकार के बंधनों से मुक्त होकर कार्य करता है।

वह अपनी कृति में सुनीति को स्थान देने के लिए उतना सतर्क नहीं होता और न सुनीति से उसकी ऐसी कभी की शत्रुता ही है कि वह आ जाने पर उसे निकाल बाहर करे। सुनीति आ जाय तो उत्तम, न आए तो भी उत्तम। इनका एक मात्र उद्देश है—सौंदर्य का विकास, रस की सृष्टि। कला का प्रधान और एक मात्र उद्देश्य सुंदर होना है, उसका कार्य आनंद देना है। जो सुंदर है, उसमें सत् है, असत् कभी सुंदर नहीं हो सकता। जहाँ सत् है वहाँ सुनीति या शिक्षा अवश्य ही है। शिक्षा और आनंद में मूलतः कोई विरोध नहीं। वृक्ष जैसे सैकड़ों जीभ से रस-संग्रह करता है, शिक्षा के विभिन्न मार्ग-द्वारा हम आनंद-प्रहरण करते हैं। किंतु एक घात है, शिक्षा निरानंद नहीं हो सकती, उसके *stagnates* जैसे विषय भी आनंद दायक है और आनंद शिक्षा-विहीन हो सकता है। उदाहरणार्थ, कैलटेरन का एक चित्र है—प्रोवेंस देश का गुलाब। इसमें नारी का अपूर्व रूप-भाधुरी व्यक्त की गई है, इसके सिवा इनमें कोई नैतिक आदर्श नहीं, फिर भी उसके सौंदर्य-विकास पर हम मुग्ध हो जाते हैं। यूरोप के प्रसिद्ध चित्रकार मैक्स विलगर ( १८५७-१९२० ) का एक प्रसिद्ध चित्र है 'नीलपटा'। एक हंगरी ( नम्र ) आकाश की ओर टकटकी लगाए खड़े हैं, दूसरी ओर नौवां डिर बैठी है, तीसरी बैठी-बैठी सामने की ओर ताक रही है। तीन प्रकार की

















गीता में भी भगवान ने कहा है—ये यथा मां प्रपद्येतांस्त-  
 धैव भजाम्यहम्—जो जिस रूप में मुझे भजते हैं, मैं भी उसे उसी  
 रूप में भजता हूँ। उपनिषद् कहती है, रसो वै सः। रसं ह्येवायं  
 लंदवानंदी भवीत। वे रस स्वरूप हैं, इसी रस को ग्रहण कर हम  
 आनंद प्राप्त करते हैं।

कला का उद्देश्य आनंद-दान है। आनंद का जन्म दाता  
 है रस और रस को सृष्टि करती है कला। ईश्वर-प्राप्ति में  
 भी रस है और नारी-प्रसंग में भी रस है। शिल्पी अपने इच्छा-  
 अनुसार इन दोनों में से किसी एक का आधार लेकर रस की  
 अवधारणा कर सकता है। विपरीत ऐसा कह सकते हैं कि नारी-  
 संभोग की रस-पूर्ण सृष्टि धर्म जीवन के लिए हानिकारक है।  
 हो सकता है, किंतु केवल कला या रस-सृष्टि की दृष्टि से इनका  
 मूल्य किसी भी प्रकार से कम नहीं। रसों दाता रस की स्तुति-दान  
 की। विरोधियों के मतानुसार स्वकी स्तुति-दान तब ही, जब वह  
 ईश्वर की स्तुति एतदा ध्यान से जप करती भावनाएँ करने  
 निमज्जित करे।

ईश्वर की कोई निश्चित मूर्ति न होने से कारण धर्म-धर्म  
 व्यक्तिगत हरे शक्ति विभिन्न हो रहे, ईश्वर की मूर्तियों  
 लोलाचों के द्वारा देवों है, पर किसी की संपूर्ण हरे ईश्वर  
 और मन-सृष्टि का दाता भी देवों है।









जिनों में हम अपने हृदय के निरूढ़ भावों की प्रतिक्रिया उगारते हैं, ज्ञान में जीवन और जगत संबंधी सत्तों की प्रतिष्ठा करते हैं, अनिष्टों की गति निश्चित करते हैं और मूर्तियों-द्वारा अंतर के मनुष्य को बाहर लाकर प्रतिक्रिया करते हैं—इस और हमें विवश बनाने वाली प्रेरणा भी वही है।

इस आहुतिया का रूप बहुत ही व्यापक है। समस्त विश्व-प्रकृति में एक इस प्रकार की चेष्टा दृग्गोचर होती है कि वह समस्त जीवों में परिव्याप्त होने के लिए व्यग्र है। मनुष्य मान के हृदय के भावों का यह एक स्वभाव है कि वे अपने को उस संकुचित सीमा से मुक्त कर बहुत से हृदयों में व्याप्त हो जाने के लिए सर्वदा व्यग्र रहते हैं। सौंदर्य-प्रोष-जनित सुग्धावस्था से जित भावनाओं का उद्रेक होता है, उन भावनाओं की भी यही प्रवृत्ति होती है। संसार की नाना परिस्थितियों में पड़कर मनुष्य सुख-दुःख, भय-वित्पय, आनंद-शोक आदि की जो अनिश्चताएँ, जो अनुभव प्राप्त कर लेता है वह चारता है कि वे अनुभव और सिद्धांत-विचार हमतक ही सीमित नहीं रहें, प्रचुर उन्हें और-और भी अधिकांश व्यक्ति उसी तोत्रता से अनुभव करें। इस विकृत का एक बहुत बड़ा रहस्य है कि हम अपनी सत्ता को व्यापक रूप में देखना चाहते हैं, अपनी सत्ता को विलुप्त देखना चाहते हैं, इसके बिना हमें सुख-सुख और वृत्ति नहीं मिल सकती।



किसी जर्मन विद्वान को राय है कि हम जितनी ही वस्तुओं को अपने हाथ में कर लेते हैं, हमें उतना ही अधिक आनंद-प्राप्त होता है। प्राणिमात्र की प्रत्येक चेष्टा में, प्रत्येक अनुष्ठान में अपने विकास ही की दुर्दम-छालसा विद्यमान रहती है। परिवार-वृद्धि तक में भी यह आकांक्षा काम करती है, हम अपना विस्तार अपने परिवार बढ़ाकर करते हैं। एक बीज अपने को नाना अवस्थाओं में बदलकर लाखों-करोड़ों बीज के रूप में बदल देता है और उन लाखों-करोड़ों से फिर कितने असंख्य बीज होते हैं और होंगे, यह कल्पनातीत है। इसी मन से हमारा वर्तमान परिवार भी एक विकसित रूप है और हम भी, भविष्य में इसका विकास हो, इसके लिए, प्राणपन से जुटे हुए हैं। इस प्रकार अपने विकास के लिए सृष्टि करने में हमें आनंद है, गौरव है। प्रकृति ने इस सृष्टि में अपने को व्यक्त कर आनंद और तृप्ति उपलब्ध की और उसी तरह हम भी कला की सृष्टि में आनंद और तृप्ति का प्रयोग करते हैं अथवा पाते हैं। प्रकृति का सृष्टि यह जीवन प्रवृत्ति है और हम मनुष्यों की कला

वात यह है कि वास्तव में ही अनिर्दिष्ट हाथ मनुष्य अपने को अनिर्व्यक्त करता है। अपने जीवन के लिए हमें जीवन का प्रयोजन है, स्वयं ही से हमें स्वयं नहीं हास—हम नहीं होने। कला में हमारा प्रसुर्य प्रकट होता है। सृष्टि के लिए प्रकृति



चाहते हैं कि दुख को जीतकर सुख पाने में गंभीर आनंद का रसात्वादन होता है। सच तो यह है कि, आनंद के बिना जीना ही व्यर्थ हो गया होता।

हाँ, तो आनंद हमारे जीवन के लिए अनिवार्य है। जीवन में आनंद-प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन कला-सृष्टि है। इसीलिए हमारे हल्के से हल्के कार्यों में दैनन्दिन जीवन में कलात्मक चेष्टा ने अपना एक प्रधान-सा स्थान बना लिया है। संसार में जीवित रहनेवाली सान्प्रियों पर दृष्टि डालने से पता लगेगा कि, उनमें कितनी अनादर्यक सान्प्रियाँ भी हमारे लिए अनिवार्य बन गई हैं। हम फल खाते हैं, उससे भूख बुझती है, पर साथ ही हम उसका सुगंध, स्वाद और सुंदरता की बात का भी नहीं भूल सकते। वस्त्र में भी अलक्ष्य रूप से हमारी सौंदर्य-सृष्टि आवश्यकताओं के अनिश्चित कुछ न-कुछ अपना हाथ छोड़ ही देती है। यह हमें मानना ही पड़ेगा कि जीवन रक्षा के लिये साधन हैं वे सुख हैं और जो पाते उनके अनिश्चित हैं वे गौर हैं किंतु यह गौर होते हुए भी स्वका प्रभाव हमें पर-स्पर्श हो गया है निश्चय ही सुख मित्रता-सा फल हमें लाता है पर हमारी पर-स्पर्श भाविक प्रवृत्तियाँ हो गई हैं।

इसका एक कारण है। अन्यायपूर्ण हमारी अन्यायपूर्ण है और जो हम उनके परे हैं पर हमारा काम है। अन्यायपूर्ण





की प्रधान सहायिका है। कला-सृष्टि का अधिकार पावर ही तो मानव जीवन अतिशय गौरवान्वित है। भोजन-पान और सोना तो पशु-पंछी और पेड़-पौधों का भी काम है।

घटन से लोग कला-सृष्टि की प्रेरणा से दो बातों की प्रधानता देते हैं। पहली प्रेरणा धन कमाने की, दूसरी यश कमाने की। हमसे संदेह नहीं कि, कला-द्वारा इन दो बातों की पूर्ति निम्नी शक्तों में होती अक्षय है, फिर भी हम यह नहीं बत सक्ते कि, कला-सृष्टि के मूल कारण ये ही हैं। जीवन की सृष्टि इतनी नहीं हुआ करती कि, भोजन करो, वरन् भोजन के बिना जिन्दगी नहीं जा सकती। इसलिए जीवन के लिए भोजन एक आवश्यक पदार्थ है। कला के विषय में भी ऐसा नहीं है। कला की सृष्टि तो एक ऐसी प्रेरणा प्रेरणा प्रेरणा है जो न तो धन कमाने को सक्ती है और न ही यश कमाने को सक्ती है। कला की सृष्टि तो एक ऐसी प्रेरणा प्रेरणा प्रेरणा है जो न तो धन कमाने को सक्ती है और न ही यश कमाने को सक्ती है। कला की सृष्टि तो एक ऐसी प्रेरणा प्रेरणा प्रेरणा है जो न तो धन कमाने को सक्ती है और न ही यश कमाने को सक्ती है।























Not physiognomy alone, nor brain above,  
is worth the muse.

I say the form complete is worthies far,  
the female equally with the male I sing "

मैं एड़ी से चोटी तक मनुष्य का शरीर-विज्ञान गाता हूँ ।  
उसके लक्षण और मस्तिष्क हो काव्य के अनुकूल नहीं है । मैं  
कहता हूँ, योग्यता है उसका संपूर्ण रूप । मैं स्त्री के साथ ही  
रूप का गान करता हूँ ।"

वास्तव में कला के आदर्श न तो यौन-मिलन (sexual  
instinct) की प्रवृत्ति है और न अश्लीलता । इन गीतों में  
निगूढता है, जो सूक्ष्म अनुभूति है, मानव-मन की स्थूल  
प्रवृत्ति उन्हें छू भी नहीं सकती । भेनसद्य मिलो को प्रतिमूर्ति  
पि अनावृत्त है, पर है वइ सौंदर्य की रम्य प्रकाश । असल में  
सौंदर्य जहाँ परिपूर्ण होता है, वहाँ नग्नता दोष नहीं बल्कि आव-  
ही भीषण अपराध है ।

अब यदि आप पूछें कि कला की सृष्टि हम क्यों करते हैं,  
तो हम एक ही बात कहेंगे, और यह कि उसके बिना हम रह नहीं  
सकते, हठीले बालक-सा हमारा हृदय बाहर आने को विकल हो

उठता है और हम उसे सुंदर रूप में बाहर ले आते हैं। यदि  
 यह पूछें कि क्या प्रेम क्यों करते हैं, तो इसके निवा और क्या  
 उत्तर दिया जायगा कि प्रेम करना हमारे लिए ज़रूरी है। हमें  
 बिना हम रही कैसे सकते हैं। और प्रेम की प्रकृति वैसी एक  
 स्वाभाविक प्रकृति है, बला-सृष्टि की प्रेरणा भी वैसी ही एक स्वा-  
 भाविक प्रेरणा है। हममें कृमि-मत्ता नहीं, फूलों में गंध की तरह  
 वह स्वतः समाई हुई है। प्रेम से रहित हृदय हृदय नहीं, पत्थर  
 है। हमी प्रकाश कला-सृष्टि की प्रेरणा से रहित हृदय मृत्यु-  
 के लिए तय है। एक बार हम फिर इस बात को ध्यान में  
 ले लें कि प्रेम ही प्रेम ही है, प्रेम मानवता का मूल्य है, बला-  
 मानवता का विनाश है, सौंदर्य और प्रेम एक ही हैं और प्रेम ही  
 प्रेम ही है। यह हमारी सदैव-सुख-सुख की बसने की  
 परिचायिका है